॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ३

॥ श्रीः ॥

महाकवियों की अमर रचनाएँ

'नियर'

लेखक
श्रीचक्रधरशर्मा

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

सं० २०१३] मूल्य २) [ई० १९५६

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्या भवन
चौक, बनारस-१

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Bar as.
(INDIA)
1956

मुद्रक—
विद्या विलास प्रेस,
बनारस-१

अपनी बात

हजारों वर्षों से विभिन्न प्रकार के उत्थान-पतन के भीतर भी हमारा संस्कृत साहित्य कभी म्लान नहीं हुआ। देश के अनेक प्रकार के संकटों को झेल कर भी यह साहित्य उत्तरोत्तर अधिकाधिक समुज्ज्वल होता गया है। अपूर्व जीवनी शक्ति एवं प्रौढ़ विचार-धारा की दृष्टि से संस्कृत वाङ्मय अप्रतिम है। संस्कृत के कवियों ने जिस अपूर्व रससुधा की सृष्टि की है, वह निःसन्देह अतुलनीय है।

सर्व श्री मैकडानल, कीथ, मोनियर विलियम्स आदि पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उसे संसार का विशाल साहित्य माना है, परन्तु हमारे लिए यह अत्यन्त लज्जा एवं परिताप का विषय है कि हमारे कुछ देश-वासियों को इसका ज्ञान नहीं।

इसी संस्कृत के विशाल साहित्य के रोचक कथानक-अंग का परिचय हमने हिन्दी छात्रों के लिए सुलभ किया है। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि प्राचीन साहित्य का परिचय देने से पाठकों की मूल साहित्य के अध्ययन के प्रति जिज्ञासा एवं उत्सुकता बढ़ेगी।

प्रस्तुत पुस्तक में संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों की प्रमुख रचनाओं के कथानक को हमने हिन्दी के माध्यम से छात्रों के मनोरञ्जनार्थ एवं ज्ञानवृद्धि के हेतु प्रस्तुत किया है।

महाकवि कालिदास एवं बाण का नाम किसने न सुना होगा, किन्तु उनकी मूल कृतियों के पढ़ने का अवसर संस्कृत भाषा के ज्ञान के विना सभी को सुलभ नहीं है। उन्हीं की सुविधा के लिए हमने संस्कृत के महाकवियों की प्रसिद्ध रचनाओं के कथानकों को सरल हिन्दी में प्रस्तुत किया है। इन कथानकों का रसामृत पान करके छात्रों की मूल साहित्य के प्रति अभिरुचि बढ़ेगी हमें ऐसी आशा है, जिससे कि हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य का पूर्णरूप से प्रचार और प्रसार हो।

हमारा यह भी विश्वास है कि संस्कृत कथा-साहित्य में महाकवि बाण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः हमने उनके कथानकों को प्रथम स्थान दिया है। इससे यह न समझना चाहिए कि हमने कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों के प्रति आदर या सम्मान में किसी प्रकार कोताही की है।

आशा है सहृदय पाठक इस पुस्तक को पढ़ कर मूल रचनाओं के प्रति जिज्ञासु बनेंगे। यदि ऐसा हुआ तो लेखिका अपने परिश्रम को पूर्णरूप से सफल समझेगी।

—लेखिका

विषय-सूची

महाकवि बाणभट्ट

संक्षिप्त परिचय

महाकवि बाणभट्ट संस्कृत साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। इनकी सी विलक्षण काव्य-प्रतिमा अन्य किसी कवि में नहीं दिखायी देती। इसी कारण कहा गया है:—

'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' अर्थात् कोई ऐसा लेखक या कवि नहीं जिसने महाकवि बाण की रचना के भावों को न चुराया हो इसमें चाहे अत्युक्ति हो, किन्तु संस्कृत कथा-साहित्य में इन कवि की टक्कर का कोई अन्य लेखक नहीं।

महाकवि का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

प्राचीन काल में कान्यकुब्ज प्रदेश में शोण नद के पश्चिम भाग में प्रीतिकूट नाम का एक गाँव था। वहाँ वात्स्य-गोत्र में उत्पन्न वैदिक-क्रिया-निपुण कुबेर नाम के एक श्रेष्ठ पण्डित थे। उन्ही के वंश में चित्रभानु नामक पण्डित पैदा हुए। उनकी पत्नी का नाम राज्यदेवी था। उन्हीं के पुत्र महाकवि बाणभट्ट पैदा हुए। जब बाण बालक ही थे तो उनकी माता का परलोकवास हो गया। चित्रभानु ने बाण का मातृवत् पालन पोषण एवं विधिपूर्वक संस्कार किया। जब बाण चौदह वर्ष के थे तो चित्रभानु का भी परलोकवास हो गया। जब बाण युवा हुए तब ईशान आदि साथियों की कुसंगति में पड़कर अपने देश से निकल कर देश-देशान्तर में विचरण करने लगे। कुछ दिन के बाद एकाएक बाण की मनोवृत्ति बदल गयी; उन्होंने देशाटन करते हुए अनेक राजाओं एवं उपाध्यायों से विविध

प्रकार का ज्ञानार्जन किया। एक बार कान्यकुब्ज के राजा हर्षवर्धन ने दूत के द्वारा बाण को राजसभा में बुलाया और जैसा राजा ने दुष्टों से बाण के बुरे आचरण के सम्बन्ध में सुना था, कहा—'यह भुजङ्ग (दुराचारी) आ गया है'। बाण ने अपने अपमान को सुन कर उत्तर दिया कि राजन्! 'अपने विचार से निर्णय करो' अर्थात् स्वयं परीक्षा करो कि मैं किस प्रकार का व्यक्ति हूँ। इस पर राजा ने पण्डित-मंडली को बाण की परीक्षा करने का आदेश दिया। तदनुसार पण्डित लोग बाण से जटिल से जटिल प्रश्न पूछने लगे। परन्तु जब बाण ने अपने शास्त्रार्थ एवं तर्कों से राजसभा की समस्त पण्डित-मण्डली को परास्त कर दिया तब राजा ने उन्हें अपनी सभा में प्रधान पण्डित का पद-प्रदान किया। इस राजसम्मान से प्रभावित होकर बाण ने हर्षचरित नामक हर्षवर्धन का एक जीवनचरित ही लिख डाला। तत्पश्चात् बाणने कादम्बरी की रचना प्रारम्भ की किन्तु पूर्व भाग ही लिख पाये थे कि उनका परलोकवास हो गया। तत्पश्चात् बाण के पुत्र भूषण भट्ट ने कादम्बरी के उत्तर भाग को समाप्त किया।

हर्षवर्धन का राज्य-काल सन् ६०६ से लेकर ६४८ ई० पर्यन्त है। अतः महाकवि बाण का समय भी यही समझना चाहिए।

महाकवि-बाणभट्ट-रचित

कादम्बरी-कथा-सार

इन्द्र के समान राजा शूद्रक चक्रवर्ती के समस्त लक्षणों से युक्त थे। समस्त महीपाल उनकी आज्ञा को शिर झुकाकर मानते थे। विष्णु के समान उनके कर-कमलों में शंख-चक्र के चिह्न थे। शिव की भाँति उन्होंने कामदेव पर विजय प्राप्त की थी। वे कार्तिकेय के समान प्रखर शक्ति वाले थे। चारों समुद्रों से परिवेष्टित पृथ्वी पर उनका शासन था।

भगवान् भास्कर के उदय होने के कुछ ही बाद, सभा में बैठे महाराज के सामने प्रतिहारी आयी। खंगधारिणी प्रतिहारी सर्प से लिपटी हुई चन्दनलता की भाँति भयंकर और सुन्दर दोनों लगती थी। उसके शरीर पर हंस के समान श्वेत वसन और हाथ में अधिकार-सूचक वेत्र-दण्ड था। वह झुक कर विनीत भाव से कहने लगी:—

'महाराज! दक्षिण दिशा से आयी हुई एक चांडाल-कन्या द्वार पर खड़ी है और क्रुद्ध इन्द्र के हुंकार से पतित स्वर्गोन्मुख त्रिशंकु की राजलक्ष्मी-सी पिंजरे में तोता लिए देव से प्रार्थना करती है कि:—'जैसे पृथ्वी पर महाराज समुद्र के समान रत्नों के आकर हैं वैसे ही मेरा तोता भी सम्पूर्ण भुवनों का एक रत्न है। यह विचार कर उसे लेकर महाराज के दर्शनकरने की अभिलाषा से आई हूँ।'

प्रतिहारी की बात सुनकर राजा ने कहा—'कुछ दोष नहीं, आने दो।'

प्रतीहारी के पीछे-पीछे चाण्डाल-कन्या भीतर आयी। उस कन्या ने देखा कि इन्द्र के वज्र के आतङ्क से एकत्र कुल पर्वतों के मध्य सुमेरु के समान राजा विराजमान हैं।

चांडाल-कन्या ने रक्त कमल पत्र-से कोमल कर का फटे बाँस की छड़ी से फर्श पर शब्द किया। जैसे वनगज ताल की ध्वनि से आकृष्ट हो जाते हैं वैसे ही समस्त राजा शूद्रक की ओर से दृष्टि फेर कर आगन्तुक की ओर आश्चर्यान्वित हो देखने लगे।

उस नवयौवना के मनोहर शरीर को राजा भी अपलक दृष्टि से निहारने लगे। कन्या के आगे आर्य-वेषधारी पुरुष था। जिसके बाल वृद्धावस्था से श्वेत हो गये थे, नेत्रों के कोने रक्त-कमल से लाल थे। किन्तु तारुण्य के अभाव में भी शरीर गठा हुआ और चांडाल होते भी उसका दर्शन सौम्य था। उसके पीछे एक चांडाल-बालक भी था। जिसकी अलकें अस्तव्यस्त थीं। उसके हाथ में स्वर्ण के सींकचों से बना एक पिंजरा था। जिसमें बैठे तोते की झलक कर्ण-सींकचों को पन्ने की सी शोभा प्रदान कर रही थी।

जब कन्याने कुछ उच्च स्वर से प्रणाम किया तो राजा का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ।

प्रणाम करते समय उसके कर्णभूषण निरन्तर डोल उठे। वह कन्या मणिमय फर्श पर बैठ गयी। श्वेताम्बर पुरुष ने पिंजरा आगे खिसका कर कहा—देव, यह तोता सब शास्त्रों का ज्ञाता, राजनीति में निपुण है, इतिहास-पुराण का तो यह अद्वितीय ज्ञाता है, संगीत का अनुपम पारखी है, काव्य-नाटकादि का ज्ञाता ही नहीं प्रत्युत उनका सर्जन-कर्ता भी है, नृत्य-कला में पारंगत है, परम चतुर चितेरा है, द्यूत में कुशल है, प्रेम-कलह में रूठी भामिनी को मनाने में परम चतुर है, घोड़े, नर-नारी के लक्षणों का अभिज्ञाता है, वस्तुतः पृथ्वी का यह एक रत्न है। इसका नाम वैशम्पायन है। आपको रत्नों का कोश जान कर स्वामी की कन्या इसे लेकर आपके चरण कमलों में उपस्थित हुई है, आप इसे स्वीकार करें।

अब तोते ने दक्षिण चरण उठा सुस्पष्ट वर्ण-स्वर संयुत भाषा में 'जय' शब्द के साथ राजा को लक्ष्य कर कहा:—

'आपकी शत्रु-नारियों के पयोधर विमुक्ताहार हैं मानो उन्होंने व्रत ग्रहण किया है, कारण कि वे बार-बार अश्रुओं से स्नान करते हैं, हृदय की शोकाग्नि के समीपवर्ती हैं।'

यह सुनकर विस्मित राजा ने बृहस्पति के समान नीति-पारंगत प्रधान मन्त्री वृद्ध ब्राह्मण कुमारपाल से कहा—'सुनो पक्षी की स्वर-माधुरी? कितनी शुद्ध शब्दावलि और अलङ्कार युक्त वाणी है! इसकी भाषा मानव की सी है, इसने शिष्ट मनुष्यों की भाँति बुद्धिपूर्वक भाव प्रदर्शन भी किया है। पशु पक्षियों को आहार, निन्द्रा, भय और विषय-वासना का ही ज्ञान होता है।' यह पक्षी कितना असाधारण है। कुमारपाल कुछ मुस्कराकर बोला:—

'देव, इसमें विस्मय की क्या बात है? तोता-मैना श्रवण किये हुए शब्द बोल सकते हैं। पूर्व-संस्कार से या प्रयत्न से उनमें अधिक निपुणता आ सकती है। पशु-पक्षियों की भाषा भी, मनुष्यों के सदृश ही, पहले स्पष्ट थी, पर अग्नि के शाप से तोतों के उच्चारण की स्पष्टता नष्ट हो गयी और हाथियों की जिह्वा फिर गयी। इसी अवसर पर मध्याह्न का शंख बजा और राजा ने स्नानादि के लिए प्रस्थान किया।

शूद्रक ने महीपालों को विदा कर कन्या के विश्राम का आदेश दिया और ताम्बूल-वाहिनी एवं को वैशम्पायन को अन्तःपुर में ले चलने का आदेश दिया। राजा ने नित्य कर्म से निवृत्त हो वैशम्पायन को उपस्थित करने की आज्ञा दी। क्षणभर में प्रतिहारी वैशम्पायन का पिंजरा लिये हुए आ पहुँची। कंचुकी के चले जाने पर राजा ने तोते से पूछा:—

अभीष्ट भोजन मिला? तोते ने उत्तर दिया भरपूर मिला।

तत्पश्चात् राजा ने पूछा—अब सविस्तर वर्णन कर मेरा आश्चर्य दूर करो, अपना सारा वृत्तांत कहो। वैशम्पायन बोला:—

महाराज यद्यपि कथा विस्तृत है तथापि आप का कुतूहल शांत करने के लिए कहता हूँ। तदनन्तर तोते ने इस प्रकार कथा आरम्भ की :—

अवन्ती देश में तीनों भुवनों की आदर्श रूप सतयुग की जन्मभूमि के समान, ऊँचे-ऊँचे गगनचुम्बी भवनों से सुशोभित, चारों ओर खाई से घिरी हुई, मानो तीनों भुवनों के सर्ग-स्थिति और संहार करने वाले भगवान् महाकाल ने अपने रहने के लिए बनायी हो, नानाविध कमल आदि फूलों से युक्त तालाबों से सुशोभित उज्जयिनी नाम की नगरी थी। उस नगरी में नहुष-ययाति-भरत-भगीरथ और दशरथ के समान प्रतापी धर्म का अवतार, प्रजापालक, नारायण के प्रतिनिधि के समान यशस्वी तारापीड़ राजा रहता था। उस राजा का अखिल शास्त्रों में पारंगत, नीतिशास्त्र-निपुण सर्वगुणसम्पन्न शुकनास नाम का मन्त्री था। उस राजा की महिषी भगवान् शंकर के जटाजूट में चन्द्रकला के समान, भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल की कौस्तुभ मणि के समान, शेषनाग के फन की मणि के समान अन्तःपुर की महिलाओं में प्रधान सौन्दर्य-राशि विलासवती थी। महात्मा शुकनास की पत्नी का नाम मनोरमा था। राजा की कोई सन्तान न थी, अतः विलासवती खिन्न रहती थी; और कोई व्रत एवं पुण्य ऐसा न था जिसे वह न करती थी।

एक बार राजा ने रात्रि के चौथे प्रहर में एक स्वप्न देखा कि विलासवती प्रासाद के ऊपर बैठी हुई थी कि इतने में सकलकला पूर्ण चन्द्र ने उसके मुख में प्रवेश किया। राजा की आँखें खुलीं तो उसने उसी समय अपने महामात्य शुकनास को बुलाया और उसे स्वप्न सुनाया। शुकनास ने हर्ष से आनन्दित होकर उत्तर दिया—'देव, अब हमारे मनोरथों की पूर्ति होनेवाली है। कुछ ही दिनों के उपरान्त आपको पुत्र-रत्न के दर्शन होंगे। आज रात मैंने भी स्वप्न में देखा कि एक श्वेतवस्त्रधारी ब्राह्मण मेरी पत्नी मनोरमा की गोद में पूर्ण विकसित सफेद कमल रख रहा है। ये मंगलमय चिह्न हैं।'

कुछ समय के पश्चात् शुभ मुहूर्त में विलासवती ने सकल प्रजा को आनन्द देने वाला पुत्र उत्पन्न किया। समस्त राज्य में आनन्दोत्सव मनाया गया। महाराज तारापीड़ हर्ष के मारे फूले न समाते थे। उस पुण्य अवसर पर उन्होंने मुक्तकण्ठ से दान दिया। पुत्र के आनन को देख-देख कर उसकी दर्शन-लालसा की तृप्ति ही न होती थी। उसी समय प्रफुल्ल आनन शुकनास ने राजा से कहा—'महाराज, देखिए इस बालक के चक्रवर्ती चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। इसके कोमल चरण-युगल अनेक राजाओं के मुकुट-मणियों के चुम्बन योग्य हैं।' इसी पुण्यावसर पर एक द्वारपाल ने राजा के चरणों में नतमस्तक होकर कहा:—

'देव, आप अत्यधिक भाग्यशाली हैं, आपके शत्रुओं का नाश हो, आप की जय हो। आप पृथ्वी पर अनन्त काल तक शासन करें। आपकी कृपा से श्रीमान् शुकनास की ज्येष्ठ ब्राह्मणी मनोरमा के रेणुका के परशुराम के समान पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है।'

राजा ने अमृतमय वाक्य को सुन कर उत्तर दिया—'अहो! क्या सुन्दर कल्याण परम्परा है। किसी ने ठीक ही कहा है—विपत्-विपत् का और संपत्-संपत् का साथ होता है।' यह कहकर राजा ने शुभ समाचार सुनाने वाले को अपरिमित पुरस्कार दिया।

तत्पश्चात् दसवें दिन पुण्य-मुहूर्त में राजा ने ब्राह्मणों को असंख्य गाय और अपरिमित धन दिया और पुत्र का नाम चन्द्रापीड रखा। तथा शुकनास ने भी अपने पुत्र का नाम वैशम्पायन रखा। यथा समय चूड़ाकर्म आदि क्रियाएँ की गयीं और चन्द्रापीड़ का शैशव समाप्त हुआ।

राजा ने चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन को विभिन्न विद्याओं में पारंगत आचार्यों के नियन्त्रण में रख कर विद्यारम्भ करवाया। दोनों ने कुछ ही समय में सकल कलाएँ एवं विद्याएँ सीख लीं।

चन्द्रापीड शनैः शनैः युवा हुआ। वह अत्यन्त सुन्दर और कमनीय था। मानो रूपराशि कामदेव ने उससे साहचर्य किया था। चन्द्रापीड़ को समस्त विद्याओं में कुशल और युवावस्था में पहुँचा जान महाराज तारापीड़ ने उसे घर बुलाने के विचार से सेनापति बलाहक को भेजा। बलाहक ने विद्यालय पहुँच कर परिजनोचित शिष्टाचार से चन्द्रापीड़ के पास बैठकर कहा—'कुमार, महाराज की आज्ञा है कि आपने समस्त शास्त्र पढ़ें, कलाएँ सीखीं जिससे हमारे सारे मनोरथ सफल हो गये। अब समस्त आचार्यों ने आपको राजभवन लौटने की अनुमति दे दी है। अन्तःपुरवासी आपको देखने को लालायित और उत्सुक हैं।'

चन्द्रापीड़ ने जब यह सुना तब उसने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर इन्द्रायुध अश्व मँगाया। भीतर और राजपुत्रों तथा सेना का समुचित सम्मान कर चन्द्रापीड़ अश्वारूढ़ होकर वैशम्पायन के साथ नगर की ओर प्रस्थान किया।

शरीरधारी कामदेव से भी अधिक सुन्दर चन्द्रापीड़ को देखने के लिए जनता अपने काम छोड़ कर घरों से निकली। नगर ने घरों की खिड़कियों के रूप में मानो स्वलोचन खोल लिये। नगर की नारियाँ शृङ्गार प्रसाधन छोड़, आधे अलंकार पहने उत्सुकता में छतों पर आ गयीं। अनेक स्त्रियों के बाँयें कर में दर्पण थे, अनेक स्त्रियों के पैर महावर रंगे लाल थे। अनेक स्त्रियाँ मरकत वातायनों से मुँह निकाल कर चन्द्रापीड़ को देख रही थीं।

शनैः शनैः चन्द्रापीड़ राजद्वार के पास पहुँचा, जहाँ मदवाले पर्वताकार गज खड़े थे। राजद्वार छत्रों से सुशोभित था। विभिन्न देशों के राजदूत वहाँ स्वागतार्थ उपस्थित थे। राजकुमार घोड़े से उतरा। वैशम्पायन का हाथ पकड़ चन्द्रापीड़ राजप्रासाद में प्रविष्ट हुआ। चन्द्रापीड़ के प्रासाद में प्रविष्ट होते ही अपने-अपने स्थान पर खड़े



अन्तःपुर की महिलाएँ चन्द्रापीड़ की आरती उतारती थीं (पृ० ९)

राजा मुकुटों को पृथ्वी तक झुका कर चन्द्रापीड़ का अभिवादन करते और प्रतिहार एक-एक कर उनका परिचय देता जाता था। अन्तःपुर की आचार-निपुण महिलाएँ बाहर आ आकर पग-पग पर उसकी आरती उतारतीं थीं।

चन्द्रापीड़ ने पिता के समीप पहुँच मस्तक झुका कर उन्हें प्रणाम किया। 'आओ' कहकर राजा ने दूर से ही भुजा फैला कर पलंग से उठकर उत्सुक आँखों और पुलकित शरीर से पुत्र का आलिंगन किया। चन्द्रापीड़ बैठने की चादर को एक ओर कर पिता के चरणों में भूमि पर ही बैठा। पास के आसन पर वैशम्पायन बैठा। तत्पश्चात् चन्द्रापीड़ वैशम्पायन को साथ लेकर परिजनों को पीछे छोड़ प्रतिहारी द्वारा प्रदर्शित मार्ग से अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ।

माता के पास पहुँच कर कुमार ने उन्हें प्रणाम किया। विलासवती तत्काल उठी। स्नेहाकुल माता ने पुत्र का माथा सूँघ देर तक उसे अपनी छाती से लगाये रखा। वैशम्पायन का भी उचित सत्कार कर वह अपने स्थान पर बैठी। विनय के साथ भूमि पर बैठते हुए पुत्र को खींचकर माता ने गोद में बिठा लिया। दासियों द्वारा लाये गये वेत्रासन पर वैशम्पायन बैठा। फिर यथाक्रम अन्य माताओं को भेंट वह इन्द्रायुध पर चढ़ मन्त्रिवर शुकनास के निवास स्थान पर पहुँचा।

शुकनास ने आँखों में आनन्दाश्रु भर कर प्रेम से गद्गद होकर चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन को गले से लगा लिया।

शुकनास ने चन्द्रापीड़ को आशीर्वाद दे, कपड़े-गहनों से उसका सत्कार कर उसे विदा किया। तत्पश्चात् चन्द्रापीड़ वैशम्पायन की माता मनोरमा से मिला। इसके बाद वह इन्द्रायुध पर चढ़ अपने प्रासाद में पहुँचा। कुछ देर चन्द्रापीड़ ने श्रीमंडप में रखे पलंग पर बैठ कर राजकुमारों के साथ ही स्नान एवं भोजनादि किया। अपने ही प्रासाद में उसने इन्द्रायुध को भी बँधवा दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही पिता के भेजे अन्तःपुर के राजपुरुष कैलाश नामक कंचुकी के साथ चन्द्रापीड़ के पास पहुँचे। कंचुकी के पीछे गंभीर चेष्टावाली एक युवती थी।

कंचुकी ने दक्षिण हाथ भूमि पर टेक प्रणाम कर कहा—'कुमार, महारानी का आदेश लेकर आया हूँ। उनकी आज्ञा इस प्रकार है—महाराज तारापीड़ ने कुछ समय पूर्व कुलूतराज पर विजय प्राप्त की थी तब उसकी पत्रलेखा नाम की कन्या अन्तःपुर में परिचारिकाओं में रख ली गयी थी। पर स्नेह हो जाने के कारण मैंने उस अनाथ राजकुमारी को प्यार से पाला है। उसे तुम्हारी परिचर्या के लिए ताम्बूलवाहिनी बना कर भेज रही हूँ। अतः इसे मामूली परिजन न मानना अपितु बाला के समान इसे जानना और इसे शिष्यवत् मानना। इस पर सदैव मित्रवत् विश्वास रखना।'

कंचुकी ने संदेश समाप्त किया कि चन्द्रलेखा ने झुक कर प्रणाम किया। चन्द्रापीड़ ने उसे एकाग्र दृष्टि से देखा। पत्रलेखा उसे देखते ही सेवा कार्य में संलग्न हो गयी। वह चन्द्रापीड़ की छाया की भाँति सोते-जागते चलते-फिरते उसका अनुसरण करती। कुछ ही समय के बाद राजा की इच्छा हुई कि चन्द्रापीड़ का यौवराज्याभिषेक किया जाय। प्रतीहारों को सामग्री एकत्र करने की आज्ञा दी गयी।

एक दिन चन्द्रापीड़ विनीत भाव से शुकनाश के पास दर्शनार्थ आया। शुकनास ने उसे उपदेश दिया—'वत्स, तुम समस्त विद्याओं में पारंगत हो, विनीत हो, अभिज्ञ हो किन्तु कहना इतना ही है कि यौवन का अन्धकार गहन, लक्ष्मी का मद भीषण, वैभव अन्धा, विषम-स्वाद मोहकारक और राजसुख निद्रा के समान चेतनाशून्य कर देता है। जिस प्रकार ज्वर मनुष्य को अचेतन कर देता है उसी प्रकार अहंकार नर-पतियों को अंधा बना देता है। लक्ष्मी प्रमाद पैदा करती है। राजलक्ष्मी

योद्धाओं के संग में क्रीड़ा करती है। अतः कुमार कुटिल एवं दुःखदायी राजशासन की डोर यौवन के झंझावात में पकड़ कर ऐसा व्यवहार और आचरण करो कि लोग तुम्हारा उपहास न करें, गुरुजन क्षोभ न करें, मित्र उपालम्भ न दें और विद्वान् चिन्ता न करें।'

थोड़े दिनों के उपरान्त शुभ मुहूर्त में चन्द्रापीड़ के यौवराज्याभिषेक की तैयारी होने लगी। पुरोहित ने वेद मन्त्रोच्चारण के साथ उसके हाथ में मंगल सूत्र बाँधा। फिर वह सभा-मण्डप में आया और सुमेरु में चन्द्रमा के समान स्वर्णसिंहासन पर विराजमान हुआ।

राजाओं का यथोचित सत्कार कर वह दिग्विजय की तैयारी में लगा। चन्द्रापीड़ ने प्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। श्वेत वस्त्रों से सुशोभित वैशम्पायन भी हथिनी पर बैठा। राजाओं का समूह और सेना के साथ उससे आ मिला।

चन्द्रापीड़ को पिता से बिछुड़ना अत्यन्त खलने लगा। तीन वर्ष के भीतर उसने समुद्र की परिखा वाली विस्तृत पृथ्वी जीत ली। तदनन्तर पृथ्वी की परिक्रमा कर कैलास और हेमकूट के किरातों के सुवर्णपुर पर उसने विजय प्राप्त की।

वहीं एक दिन इन्द्रायुध पर सवार हो वह शिकार के लिये निकला। सहसा उसने पर्वत के शिखर से उतरे किन्नर-युगल को देखा। अज्ञात मनुष्य को देखकर वे संत्रस्त हो भागे। चन्द्रापीड़ ने उन्हें पकड़ने के लिए उनके पीछे घोड़ा दौड़ाया। इन्द्रायुध वायु वेग से क्षणमात्र में वह अपने स्थान से पन्द्रह योजन दूर जा पहुँचा। किन्नर युगल हाथ नहीं आये; सामने के पर्वत-शिखर पर चढ़े, और नेत्रों से ओझल हो गये। चन्द्रापीड़ भी शिखर पर चढ़ गया।

चन्द्रापीड़ ने वहाँ मार्ग चट्टानों से रुका हुआ पाया। उसने सोचा कि विजय कार्य पूरा न हो सका। न जाने सेना कितनी दूर है। उसने दक्षिण की ओर घोड़े को मोड़ा।

कुछ ही दूर और चलकर कैलास के पूर्वोत्तर कोने में चन्द्रापीड़ ने कृष्णपक्ष के घने अंधकार के समान वृक्षों का कुंज देखा। उसमें प्रविष्ट होते ही आच्छोद नाम का अत्यन्त मनोहर सरोवर उसके दृष्टिगोचर हुआ। वह सरोवर के दक्षिण तट पर जा पहुँचा और इन्द्रायुध से उतर पड़ा।

कुछ ही देर आराम के उपरान्त उसने उत्तर दिशा की ओर गीत की ध्वनि सुनी। गान से आकृष्ट वन-मृग ध्वनि के पीछे ही सरोवर के पश्चिमी तटवर्ती वन की ओर छलाँगे मारते हुए दौड़े जा रहे थे। उस पश्चिम तट पर चन्द्रिका की भाँति धवल चन्द्रप्रभा नाम की भूमि पर उसे भगवान् शिव का एक शून्य सिद्ध-मन्दिर दिखाई दिया। वह मन्दिर में प्रविष्ट हुआ।

दक्षिण-मूर्ति के सामने चन्द्रापीड़ ने ब्रह्मासन में बैठी पाशुपत व्रत धारण किये हुए एक कन्या देखी, जो वीणा-वादन के साथ गा रही थी। श्वेत, सुन्दर अपनी सहज प्रभा से वह निकटवर्ती भूमि को आभान्वित कर रही थी।

वह बाला गीत समाप्त कर उठी और शिव की परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर उसने चन्द्रापीड़ की ओर देखा और विनम्र भाव से कहा:—

'अतिथि महाभाग स्वागत! आप इस प्रदेश में कैसे पधारे? कृपा कर मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।'

'जैसी आपकी आज्ञा' कह कर चन्द्रापीड़ उसके पीछे चला। सामने एक गुहा दिखायी दी।

गुहा द्वार के दोनों ओर झरने झर रहे थे। वल्कल-शैय्या के सिरहाने वीणा रख कन्या बाहर निकली। फिर पत्तों का दोना बना अर्घ्य के लिए झरने से जल भर लायी।

आतिथ्य से अवकाश पा देवी दूसरी शिला पर जा बैठी। फिर थोड़ी देर चुप रह कर उसने चन्द्रापीड़ से उसका वृत्तान्त पूछा। वृत्तान्त सुनकर कन्या उठी। सायंकाल की धार्मिक क्रियाएँ विधिवत् समाप्त कर वह शिला पर आ बैठी। चन्द्रापीड़ भी शनैः शनैः उसके समीप ही थोड़ी दूर पर जा बैठा और उससे बोला—'समस्त सिद्धियों से परिपूर्ण सुरलोक छोड़ भला आप इस निर्जन वन में एकान्तवास क्यों करती हैं? पृथ्वी, अप, तेज आदि पंच महाभूतों से निर्मित आप का शरीर इतना श्वेत क्यों है? पहले ऐसा कभी मेरे सुनने एवं देखने में नहीं आया।' चन्द्रापीड़ की बात सुन कर कन्या विचारमग्न हो गयी। शान्त बैठी लम्बी साँसें भरने लगी। फिर शनैः शनैः कन्या निःशब्द विलाप करने लगी।

उसके रोने से चन्द्रापीड़ के हृदय में एक ठेस लगी।

उसने गद्गद स्वर में चन्द्रापीड़ से कहा—'द्वितीय गन्धर्व कुल में अरिष्टा से हंस, तुम्बरू आदि छः पुत्र हुए। उनमें हंस ज्येष्ठ था। चन्द्र-किरणों के अप्सरा कुल में चन्द्र-किरण-सी श्वेत गौरी नामक कन्या उत्पन्न हुई, वह असाधारण सौन्दर्य-राशि थी। उसी के साथ गन्धर्वराज हंस ने विवाह किया। यह अभागिनी उन्हीं की पुत्री है।

एक दिन की घटना है। मैं अपनी माता के साथ प्रफुल्ल कमलों से व्याप्त इस आच्छोद सरोवर में स्नानार्थ चली आयी।

उसी समय सभी अभिनव कुसुमों के परिमल को मात करती हुई, अपनी सुरभि से नासिका-पुटों को परितृप्त करती हुई मर्त्यलोक में दुर्लभ गन्ध आई। जिज्ञासुभाव से मैंने तपते वसन्त के सदृश, महादेव को वशीभूत करने के लिए यम-नियम करनेवाले कामदेव-सदृश स्नानार्थ उपस्थित एक मुनिकुमार को देखा।

मुनिकुमार के कर्ण में एक अद्‌भुत पुष्प-मंजरी थी। ऐसी मंजरी मैंने कभी नहीं देखी थी। ऐसा प्रतीत हुआ कि समस्त कुसुमों की गन्ध

दबा देने वाली सुरभि उसी की थी। उसके असाधारण सौन्दर्य पर मैं आकृष्ट हो गयी।

मेरी अस्वाभाविक दशा देख मुनिकुमार के धैर्य का बाँध टूट गया। उसे भी सहसा रोमांच हो आया।

उसके साथी ऋषिकुमार के समीप जाकर मैंने प्रणाम कर उससे पूछा—मुनि, युवक कौन हैं ?" ऋषिकुमार मुस्कराता हुआ बोला—'महामुनि श्वेतकेतु देवलोक में रहते हैं। एक दिन महामुनि पूजा के हेतु कमल तोड़ने को मन्दाकिनी में उतरे। सहस्रपत्र के पुंडरीक में विराजमान लक्ष्मी ने उन्हें देखा। प्रेम-निमीलित नेत्रों से उसने इसे निहारा। कमलासना लक्ष्मी का मनोरथ पूर्ण हुआ। उसने एक कुमार जन्म दिया। उसे गोद में लिए लक्ष्मी ने सामने आकर मुनि से कहा—भगवन् , अपने इस पुत्र को लो, श्वेतकेतु ने पुत्र स्वीकार कर उसका संस्कार सम्पन्न कर उसका नाम पुंडरीक रखा। उसका उपनयन कर उन्होंने उसे समस्त विद्याएँ पढ़ायीं। यह मुनिकुमार वही पुंडरीक हैं।"

महाश्वेता ने जब इस प्रकार अपनी अतीत की कथा सुनायी तो उसे असह्य वेदना हुई और वह संज्ञा-शून्य हो गयी। वह ऊपर शिलाखंड से नीचे गिरने ही वाली थी कि चन्द्रापीड़ ने उसे सम्हाला। उसी के वल्कल छोर से वायु करते हुए चन्द्रापीड़ने उसे सचेत किया। उस पर भी कथा का अमिट प्रभाव पड़ा। वह भी निरन्तर अश्रुप्रवाहित कर रहा था। उसने करुण शब्दों में महाश्वेता से कहा—"मुझ नराधम ने आपके घाव को नवीन कर दिया। अब कथा समाप्त करो। मैं सुनने में अशक्त हूँ।'

चन्द्रापीड़ की बात सुन उष्ण साँस लेकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से महाश्वेता ने कहा—'राजकुमार जब मेरे ये पामर प्राण उस भीषण रात्रि में नहीं गये तब वे आज क्या जायेंगे।' फिर उसने श्वेत वल्कल छोर से मुँह ढक लिया और घोर विलाप करने लगी।



फिर महाश्वेता घोर विलाप करने लगी (पृ० १४)

चन्द्रापीड़ तो उसके सौन्दर्य, विनय, निरभिमानता, औदार्य, शालि आदि गुणों पर पहले ही विमुग्ध हो चुका था; पर जब उसने उसकी करुण कहानी सुनी तब तो और भी आकृष्ट हो गया। उसने अनेक स्निग्ध वाक्यों से उसे धीरज बँधाया और झरने से जल लाकर उसका मुँह धुलवाया। महाश्वेता शनैः शनैः उठी और सायंकालीन नैत्यिक क्रियाओं में लग गयी।

प्रातः उठ कर चन्द्रापीड़ ने आवश्यक विधि क्रियायें संपन्न कीं। महाश्वेता शिला पर बैठ पाप नष्ट करने वाले मंत्रों का जप करने लगी। सहसा तरलिका ने प्रवेश किया।

महाश्वेता ने जप समाप्त करके तरलिका से पूछा—'प्रिय सखी, कादम्बरी सकुशल? उसे क्या मेरा वचन स्वीकार है? तरलिका ने अति विनय भाव से कहा—'भर्तृदारिके, आपकी सखी स्वस्थ तो है? परन्तु जब मैंने उसे आप का संदेश सुनाया तब उसने आँसू गिराना प्रारम्भ किया और उसने अपना संदेश आपके पास इस केयूरक नामक वीणावाहक द्वारा भेजा है। तरलिका के मौन होने पर केयूरक ने कहा—'स्वामिकन्ये महाश्वेता, आपकी सखी कादम्बरी ने कहा है—जब प्रिय सखी व्रताचरण से शरीर को पीडित कर रही है तब भला मैं सुखमय जीवन के लिए कैसे विवाह कर सकती हूँ? तुम्हारे प्रेमवश विवाह न करने की प्रतिज्ञा करती हुई मैंने अयश और अविनय की चिन्ता न की। फिर भला तुम्हारे वचन को कैसे मानूँ? अतः विनम्रभाव से कहती हूँ कि मुझ पर कृपा करो। मेरे प्राण भी तुम्हारे साथ अटके हुए हैं।' यह कह केयूरक मौन हो गया।

कादम्बरी का उत्तर सुन महाश्वेता अतीव चिन्तित हुई। तब उसने केयूरक से कहा—'अच्छा, तुम जाओ। मैं स्वयं वहाँ आती हूँ और जो ठीक होगा वह करूँगी।' केयूरक चला गया। तब महाश्वेता ने चन्द्रा-

पीड़ से कहा—राजकुमार, चित्ररथ की राजधानी हेमकूट सुन्दर और दर्शनीय है। कादम्बरी सरल और उदार हृदया है। यदि वहाँ चलने में कोई आपत्ति न हो, तो कृपया मेरे साथ चलें। वहाँ मेरी अभिन्न-हृदया अनुपम लावण्यवती कादम्बरी से मिल उसके मन का भ्रम दूर कर, एक दिन वहाँ ठहर कर वापस चले आयेंगे।'

चन्द्रापीड़ हेमकूट को दर्शन की अभिलाषा से महाश्वेता के साथ जाने के लिए तैयार हो गया।

महाश्वेता और चन्द्रापीड़ हेमकूट गये। वहाँ गन्धर्व राज के महल में पहुँच कर उन्होंने स्वर्णतोरणोंवाली सात ड्योढियों को लाँघा और अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए।

अनेक कन्याओं से घिरी कादम्बरी पलंग पर नीले श्रीवितान के नीचे बैठी थी। अनिन्द्य अप्रतिम सौन्दर्य की कादम्बरी पराकाष्ठा थी।

कादम्बरी का असाधारण सौन्दर्य देख चन्द्रापीड़ आश्चर्य चकित रह गया। तभी कादम्बरी ने भी उसे देखा। कुमार को देख उसे सात्विक स्वेद होने लगा, शरीर रोमाञ्चान्वित हो आया।

कादम्बरी ने महाश्वेता का गाढ़ालिंगन किया। महाश्वेता ने भी उससे भली भाँति लिपटकर कादम्बरी से कहा—'सखि, भारतवर्ष में प्रजापालक तारापीड़ नामक राजा रहते हैं। ये चन्द्रापीड़ उन्हीं के पुत्र हैं। कादम्बरी महाश्वेता के साथ ही पर्यंक पर बैठ गई। चन्द्रापीड़ सिरहाने के पास रखी स्वर्ण की चौकी पर बैठ गया। तब ग्रामीण बालिका की भाँति महाश्वेता की ओर देखती, पसीजे प्रकम्पित शरीर-वाली कादम्बरी ने ताम्बूल वाला अपना कोमल हाथ चन्द्रापीड़ की ओर बढाया।

महाश्वेता और कादम्बरी ने चन्द्रापीड़ के निवास के लिए प्रमदवन के क्रीड़ापर्व पर बने मणि-महल को चुना।

तत्पश्चात् कादम्बरी अपने परिजनों और सखियों को विदा कर अपने महल की छत पर पहुँची। वहाँ उसका मन चन्द्रापीड़ की याद में व्याकुल होने लगा। चन्द्रापीड़ के मन की स्थिति भी कादम्बरी के मन के समान ही थी।

सहसा प्रतिहारी ने आकर सूचना दी कि महाश्वेता पधारी हैं। प्रकाश की ओर उसने देखा तो सामने बालाओं से घिरी मदलेखा उसकी ओर आ रही थी। उसके पीछे कलाई में पुष्पमाला डाले तमालिका थी। उसके पीछे वस्त्रावृत टोकरी में शुभ्रहार लिए हुए तरलिका थी। मदलेखा आयी और मरकत-शिला पर बैठ गयी। तत्पश्चात् उसने उसे चन्दन लगाया, वस्त्र पहनाये और पुष्पमालाएँ पहनायीं। फिर विशिष्ट हार को हाथ में लेकर कहने लगी—राजकुमार, आपकी निरभिमान शोभा ने अनेक को परवश कर दिया है। यद्यपि आपके गुणों के समक्ष अन्य आभूषण निरर्थक हैं तथापि कादम्बरी की इस भेंट को स्वीकार कीजिए। उसके प्रणय को अस्वीकार करने का विचार छोड़ दें।' यह कह मदलेखा ने उसे हार पहनाया। दूसरे दिन प्रातः चन्द्रापीड़ कादम्बरी से मिलने गया।

चन्द्रापीड़ ने पहले महाश्वेता को, फिर कादम्बरी को अभिवादन किया। तत्पश्चात् स्नेहार्द्र मन से उसने कादम्बरी से कहा—'देवि, अधिक कहना निरर्थक है। संक्षेप में कहता हूँ कि मुझे भी अपने परिजनों में समझो।' तदनन्तर वह अन्तःपुर से बाहर आया और कादम्बरी के अतिरिक्त सभी बालाएँ उसे बाहर तक विदा करने आयीं। जब वे चली गयीं तब वह उस अश्व पर आरूढ़ हुआ जिसे केयूरक लाया था। उसके साथ अन्य गन्धर्व कुमार भी हेमकूट की उपत्यका के बाहर तक आये। कादम्बरी की स्मृति उसके हृदय-पटल पर अंकित रही।

शनैः शनैः जब वह महाश्वेता के आश्रम तक आया तो देखता क्या है कि उसकी सेना इन्द्रायुध के पदचिह्नों का अनुसरण करती हुई वहाँ आ पहुँची और आच्छोद सरोवर के तट पर पड़ाव डाले हुए पड़ी है। चन्द्रापीड़ को देख सेना हर्षित हुई। तत्पश्चात् चन्द्रापीड़ ने अपने शिविर में पहुँच वैशम्पायन एवं पत्रलेखा से महाश्वेता, कादम्बरी आदि की चर्चा की। रात भर उसे कादम्बरी का स्मरण होता रहा।

दूसरे दिन चन्द्रापीड़ सभा-मंडप में जा बैठा ? सहसा प्रतीहारी के साथ केयूरक आ पहुँचा। चन्द्रापीड़ ने उसे गले लगाकर अपने निकट बैठाया और प्रेम के साथ कादम्बरी की कुशल पूछने लगा। केयूरक ने कादम्बरी की भेजी हुई उसे अनेक वस्तुएँ दीं और कहा—कादम्बरी आपको प्रणाम करती है और महाश्वेता आदि भी आपको प्रणाम कहती हैं। महाश्वेता का संदेश है कि जो आपको न जाने वही सुखी है। जो आपको जानता है, उसका कादम्बरी की भाँति बेहाल है। अतः लौट कर दर्शन दीजिए। इस पर चन्द्रापीड़ ने कहा—'यह महाश्वेता की कृपा का फल है कि कादम्बरी इस सेवक का स्मरण करती है। उसने वे वस्तुएँ अपने हाथ में लीं।

तदनन्तर चन्द्रापीड़ ने सेनापरिजनों को आदेश दिया, वैशम्पायन को सेना का भार सौंपा और इन्द्रायुध पर चढ़ कर अपने पीछे पत्रलेखा को भी चढ़ाकर उसने हेमकूट की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में ज्ञात हुआ कि कादम्बरी मत्तमयूर नामक विलास पर्वत के नीचे एक हिमगृह में है। दासियाँ कादम्बरी का शीत-उपचार कर रही थीं। राजकुमार को देखते ही उन्होंने झट मार्ग छोड़ दिया। चन्द्रापीड़ ने हिमगृह में प्रवेश किया।

कादम्बरी चन्द्रापीड़ को देख पुष्प-शय्या से उठी। चन्द्रापीड़ ने आकर पहले महाश्वेता को प्रणाम किया, तत्पश्चात् सविनय कादम्बरी

को। राजकुमार को प्रणाम कर कादम्बरी उसी कुसुम-शय्या पर बैठ गई। राजकुमार भूमि पर ही बैठ गया।

तदुपरान्त केयूरक ने पत्रलेखा की ओर संकेत करते हुए विनती की—'देवि, चन्द्रापीड़ की स्नेहभाजन यह पत्रलेखा ताम्बूलवाहिनी है।' उसे देख कादम्बरी को उसके रूप पर बड़ा आश्चर्य हुआ। महाश्वेता से स्नेहपूर्वक दो बातें कर चन्द्रापीड़ कादम्बरी के प्रासाद से निकला। पत्रलेखा को वहीं छोड़ राजकुमार घोड़े को एड़ लगा अपने स्कन्धावर में पहुँचा। वहाँ पिता का परिचित पत्र-वाहक आया हुआ था। उससे माता-पिता-परिजनों की कुशलक्षेम पूछी। पत्र-वाहक ने दो पत्र दिये। उनको मस्तक से लगा कर वह पढ़ने लगा—'प्रजा सकुशल है। तुम्हें देखे बिना बहुत दिन हो जाने से मन उत्कण्ठापूर्ण है। देवी भी समस्त परिजन के साथ उदास हैं। पत्र पढ़ते ही आजाओ।'

दूसरा पत्र महामात्य शुकनास का था, उसका आशय भी वही था। इसी प्रकार के दो पत्र वैशम्पायन के पास भी आये थे, जिन्हें लाकर उसने राजकुमार को दिखाया। घोड़ों के मध्य खड़े बलाहक के पुत्र मेघनाद को पत्रलेखा के साथ पीछे से आने का आदेश देकर चन्द्रापीड़ तत्काल सेना के साथ उज्जयिनी की ओर चल पड़ा। जाते समय उसने मेघनाद से कहा कि पत्रलेखा के साथ आये केयूरक द्वारा देवी कादम्बरी के पास मेरा यह संदेश भेज देना कि मेरी आकस्मिक यात्रा से मेरे प्रणयविज्ञान पर आपको अविश्वास होना स्वाभाविक है, किन्तु पूज्य पिता की आज्ञा अनुल्लंघनीय है। मैं केवल शरीर से उज्जयिनी जा रहा हूँ, हृदय को यहीं छोड़े जा रहा हूँ।

तत्पश्चात् सेना का भार वैशम्पायन पर डाल, उसे शनैः शनैः आने का आदेश दे चन्द्रापीड़ कादम्बरी-वियोग से शून्य हृदय होकर उज्जयिनी की ओर चल पड़ा।

बहुत दिनों बाद मेघनाद के साथ पत्रलेखा लौटी। राजाओं को विदा कर चन्द्रापीड़ फिर पत्रलेखा को लिए प्रासाद के भीतर गया। पत्रलेखा से कादम्बरी का संदेश एवं उलाहना सुनकर चन्द्रापीड़ उद्विग्न हो उठा। उसे विरह की इतनी व्यथा हुई कि उसका शरीर दिन-प्रतिदिन कृश होने लगा।

अकस्मात् एक दिन समाचार मिला कि वैशम्पायन आ रहा है। दूसरे दिन वह इन्द्रायुध पर चढ़ सेना के खेमों में जा पहुँचा और डेरे-डेरे में वैशम्पायन को ढूँढ़ने लगा। राजपुत्र उसे घोड़े से उतार वृक्ष की छाया में बिठा वैशम्पायन का हाल वर्णन करने लगे। चन्द्रापीड़ ने समझ लिया कि उसका मित्र नहीं है। उसके मर्म पर असह्य आघात लगा। फिर राजपुत्रों ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'सुनिये महाराज! जब आप चले गये तब सामग्री के लिए सेना को वहाँ एक दिन और रुकना पड़ा। कूच का शंख बजाते ही वैशम्पायन ने कहा कि आच्छोद सरोवर का बहुत माहात्म्य है। उसमें स्नान कर उसके तीर पर स्थापित शिवजी के दर्शन करके चलना उत्तम होगा। फिर वे आच्छोद सरोवर गये। वहाँ की रमणीयता निहारते वे मकरन्द लदे लताकुंज के निकट पहुँचे। उसे देखते ही वे कुछ आकृष्ट और स्तब्ध हुए जैसे किसी मित्र, सम्बन्धी या चिरवियुक्त स्वजन के समीप पहुँच गये हों। अन्त में निष्ठुर शब्दों में बोले—मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा। सेना लेकर तुम लोग चले जाओ। हम वहाँ तीन दिन ठहरे रहे, पर वे जब किसी प्रकार आने को तैयार न हुए तब कुछ सेवकों को वहाँ नियुक्त कर हम इधर आये।'

यह सुनकर चन्द्रापीड़ स्तब्ध रह गया। अनेक प्रकार से बिलखता जब वह शुकनास और मनोरमा को धैर्य बँधाने उनके राजमहल में पहुँचा तो उसने अपने माता-पिता को भी उन्हीं के बीच बिलाप करते

देखा। मनोरमा को आश्वासन देते हुए चन्द्रापीड़ ने भी उसे विश्वास दिलाया कि मैंने पिता से वहाँ जाकर वैशम्पायन को लौटाने की अनुमति ले ली है। अब निश्चय लिवा लाऊँगा, आप धैर्य न खोवें।

सोचता-विचारता कई दिन यात्रा करता हुआ वह आधा मार्ग पार कर गया। उसी समय मेघनाद आ पहुँचा। चन्द्रापीड़ ने पूछा कि पत्रलेखा क्या पहुँच गयी होगी ? उसने कहा—'हाँ, पहुँच गयी होगी।'

मेघनाद के मौन होते ही वह फिर चल पड़ा और कादम्बरी के प्रणय-संघर्ष को सोचता-विचारता किसी प्रकार वह आच्छोद सरोवर के निकट जा पहुँचा। अब उसे वैशम्पायन के पहले ही भाग जाने का भय होने लगा। सेना को तब वहीं ठहरा, यात्रा-वस्त्र बदल कर इन्द्रायुध पर बैठ चन्द्रापीड़ महाश्वेता के आश्रम में जा पहुँचा।

चिन्ताकुला महाश्वेता अधोमुखी बैठी रही और गद्गद स्वर में उसने कहा—यह शोक समाचार आपको सुनाना भी मुझ अभागिनी के ही भाग्य में था। केयूरक से जब मैंने आपके जाने का समाचार सुना तो बहुत विकल हुई और कादम्बरी का स्नेहपाश तोड़कर यहाँ तप करने चली आयी। मैं देखती क्या हूँ कि आपके रूप का कोई ब्राह्मण तरुण, शून्य हृदय, उद्विग्न, अश्रुपूर्ण दृष्टि से यहाँ किसी चीज को ढूँढ रहा है। देखते ही जैसे उसने मुझे पहिचान लिया। चिरपरिचित की भाँति अश्रुपूर्ण दृष्टि से मुझे देखता हुआ बोला :—

'सुन्दरि, रूप, जन्म, वय के अनुसार ही आचरण उचित है। तू प्रकृति-विपरीत तप से अपनी काया क्यों पीड़ित कर रही है ! रूप एवं वय के अनुसार तू फल के साथ संयोग क्यों नहीं करती ?'

उस ब्राह्मण तरुण को देखकर मुझे पुंडरीक का स्मरण हो आया। मैं दूसरी ओर जाकर फूल तोड़ने लगी और मैंने तरलिका से कहा—'जान पड़ता है यह कोई ब्राह्मण-कुमार है। इसकी दृष्टि और वाणी में

विकार हो गया है। इसे कह दे कि फिर इधर न आये। जो मना करने पर भी आयेगा तो अवश्य उसका अनिष्ट होगा।' पर मना करने पर भी उसने मेरा अनुसरण किया। एक रात्रि में जब तरलिका सो चुकी थी, मैं संताप के कारण जाकर बाहर शिला पर लेट गई। मेरे निकट आकर उसने कातर स्वर में कहा :—

'चन्द्रमुखि, कामदेव का बन्धु यह चन्द्र मेरे प्राणान्त के लिए प्रयत्नशील है, अतः मेरी रक्षा कर। मैंने उसे शतशः धिक्कारा और चन्द्र की ओर हाथ जोड़ कर उसे शाप दिया :—

'सकल भुवन-चूड़ामणि, यदि मैंने पुण्डरीक की दर्शन-लालसा के अतिरिक्त कभी किसी पुरुष का चिन्तन भी मन से न किया हो, तो मैं शाप देती हूँ कि इसका जन्म तोते की योनि में पड़े। मेरे ऐसा कहते ही वह छिन्नमूल वृक्ष की भाँति चेतनाशून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके मरणोपरान्त उसके परिजनों के विलाप से मैंने जाना कि वह आपका परम मित्र था।' महाश्वेता ने यह कह कर मुख लज्जा से झुका लिया और निरन्तर अश्रुवर्षा करने लगी।

यह सुनते ही चन्द्रापीड़ के आर्त नयन बन्द हो गये। उसने अवरुद्ध गले से कहा :—

'भगवति, तुम्हारे सतत प्रयास करने पर भी इस जन्म में मुझे देवी कादम्बरी की चरणसेवा का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। अतः जन्मान्तर में भी तुम इसके सम्पादन का प्रयत्न करना।'

यह कह कर उसका भावुक हृदय भ्रमर के आघात से कली के समान सहसा फट गया।

महाश्वेता चन्द्रापीड़ को देखती हुई संज्ञाशून्य हो गयी; तरलिका फूट-फूट कर रोने लगी, चन्द्रापीड़ के परिजन महाश्वेता को कोसने और विलखने लगे। हिनहिना कर इन्द्रायुध रोने लगा, शृङ्खला तोड़ने

लगा। कादम्बरी ने पत्रलेखा से संदेशा पाया तो महाश्वेता से मिलने का बहाना करके चन्द्रापीड़ के दर्शनार्थ विह्वल हो आ पहुँची। केयूरक मार्ग दिखा रहा था, मदलेखा से वह बात कर रही थी और पत्रलेखा का हाथ पकड़ा हुआ था।

जब कादम्बरी ने वहाँ चन्द्रापीड़ की वह दशा देखी तो व्याकुल हो गिर पड़ी। फिर वह महाश्वेता के कंठ में लग कहने लगी—'प्रिय सखी, तुम्हारी आशा सजग है, जिससे प्रेम-परवश प्रतिक्षण मरणाधिक दुःख भोगती हुई भी तुम जीवन यापन कर रही हो मुझे वह आशा भी नहीं है, जन्मान्तर में मिलने के लिए क्षीण आशान्वित होकर जा रही हूँ। इतना कह उमड़ते आनन्दाश्रु भरी आँखों से एकटक देखती हुई प्रसन्न सी वह चन्द्रापीड़ के चरणों को पूज उसके शव को अंक में लेकर बैठ गयी।

उसके शव का स्पर्श करते ही उसमें से चन्द्रमा की सी धवल प्रभा चमकी और तत्काल आकाशवाणी सुन पड़ी—'वत्से महाश्वेते, विश्वास रख। पुण्डरीक का शरीर विनाश रहित मेरे लोक में मेरे तेज से पुष्टि पा रहा है। यह द्वितीय भी अविनाशी है और शाप से मुक्त होने तक यहीं रहेगा। इसको जलाना नहीं, जल में इसे न डालना, जब तक यह उठे नहीं तब तक इसे यत्न से रखना।'

आकाशवाणी से विस्मित सब ऊपर देख रहे थे कि पत्रलेखा उठी और बोली—'महाराज बिना वाहन के ही चले गये।' यह कह उसने इन्द्रायुध को पकड़ा और आच्छोद सरोवर में कूद पड़ी। सरोवर से बुदबुदे उठ ही रहे थे कि वहाँ से एक तापस कुमार निकला। उसके मुख पर शैवाल लगी हुई थी। जनेऊ गले और शरीर से चिपका था। वल्कल का कमरबंद बँधा था। वह महाश्वेता के निकट जा कर गद्गद स्वर में बोला:—

'गन्धर्वराजपुत्री, आपने अपने इस सेवक को पहिचाना नहीं।' उसका स्वर पहिचान आनन्द-शोक मिश्रित स्वर में महाश्वेता ने कहा:—

'भगवन् कपिंजल, भला मैं पापिनी आप को भूल सकती हूँ। आप कहाँ रहे? पुंडरीक कहाँ हैं, आप अकेले कैसे आये?'

कपिंजल ने कहा—'राजपुत्री, सुनो। उसको ले जाने वाले पुरुष ने कहा है—'क्रोध शान्त होने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी ही किरण से उत्पन्न गौरी की पुत्री महाश्वेता ने इसे पति के रूप में वरण किया है।' अब तो शापवश उसे दो बार जन्म धारण करना ही पड़ेगा। शरीर का नाश न हो जाय, अतः इसे उठा लाया हूँ। मेरे ही तेज से इसकी पुष्टि होगी। यही महाश्वेता से भी कह दिया है। श्वेतकेतु से जाकर यही वृत्तान्त कह देना। तब उसने मुझे विदा किया। फिर मैं लौटा पर मित्र शोक में अन्धे की भाँति एक देवता से टकरा गया, देवता उलट गया। उसने क्रोध से शाप दिया:—

'जिस प्रकार इतने विस्तृत आकाश में भी तू उन्मत्तकी भाँति टकरा रहा है, उसी प्रकार तू अश्वजाति में उत्पन्न होकर मर्त्यलोक में जा।'

मैंने अपनी भूल स्वीकार की और बहुत अनुनय विनय की। तब वे बोले:—

'मेरा शाप अन्यथा नहीं हो सकता। अतः तू जा और जिसका वाहन तू होगा उसके मरते ही तू भी शाप-विमुक्त होगा' मैंने इतना और कहा—'भगवन्, शापवश जिस मित्र पुण्डरीक का जन्म होने वाला है, उसके समीप ही मैं भी रहूँ।' उन्होंने कहा:—

'उज्जयिनी में महाराज तारापीड़ के यहाँ चन्द्रमा का पुत्ररूप में जन्म होगा। तेरा मित्र भी उसी राजा के अमात्य शुकनाश का पुत्र होगा। तू उसी चन्द्रकुमार का वाहन बनेगा। तत्पश्चात् मैं महासागर में जा गिरा और अश्व बन कर निकला। चन्द्रावतार चन्द्रापीड़ को मैं इन्द्रायुध

के रूप में यहाँ किन्नर-युगल के पीछे-पीछे ले आया, जिसे तुमने अपनी शापाग्नि से भस्म किया। वह वैशम्पायन पुण्डरीक ही था। तुमने पहचाना नहीं।'

यह वृत्तान्त सुन महाश्वेता विलख-विलख कर रोने लगी। अपने को बार-बार कोसती रही, उसके आर्तनाद से चराचर सभी को असह्य वेदना हुई।

जब सब चले गये तब अश्रुपात करती हुई कादम्बरी ने महाश्वेता से कहा—प्रिय सखी, तुम-सी ही दुःखिया बना भगवान् ने मुझे सुख ही दिया है। इससे जो मेरे लिए उचित है वह तू ही मुझे बता। मैं सर्वथा अज्ञानी हूँ। महाश्वेता बोली—प्रिय सखी, उपदेश का स्थान कहाँ है? जिस प्रकार प्रिय से समागम की आशा हो वह सब करो। चन्द्रापीड़ का पार्थिव शरीर तेरी गोद में है, उसको सम्हाल कर रख।

महाश्वेता की बात सुनकर कादम्बरी ने तरलिका और मदलेखा की सहायता से चन्द्रापीड़ का संज्ञाशून्य शरीर उठा कर शिला पर रख दिया।

कादम्बरी आत्मचेतना खो बैठी और चन्द्रापीड़ के शव पर चिपट गयी।

कादम्बरी के स्पर्श और आलिंगन से चन्द्रापीड़ के गये प्राण फिर से लौट आये। जिस प्रकार दिन के ताप से सम्पुट कुमद शरत् की चन्द्रिका से खिल जाता है उसी प्रकार चन्द्रापीड़ का हृदय कादम्बरी के स्पर्श से धड़कने लगा, उसकी प्राणवायु चलने लगी। मानो सोकर जगा हुआ सा चन्द्रापीड़ कानों को मधुर लगने वाले स्वर से बोला-'भीरू, भय को दूर करो। तुम्हारे स्पर्श से ही मैं जीवित हुआ हूँ। तुम्हारी उत्पत्ति अमृत-जन्मा अप्सरा-कुल से हुई है। उसी तेज से बना यह मेरा पार्थिव शरीर अविनाशी है और अब तो वही तुम्हारे स्पर्श से और भी अनश्वर हो गया है। तुम्हारे करस्पर्श के अभाव तक

ही मेरे शाप का दोष था। आज उस शाप का अन्त हो गया। आज शूद्रकवाला अपना मानव शरीर का मैंने परित्याग कर दिया है। तुम्हारी प्रियसखी महाश्वेता का प्रियतम पुंडरीक-वैशम्पायन भी मेरे साथ ही शाप के फलस्वरूप मुक्त हुआ है।'

चन्द्रापीड़ की बात समाप्त भी न हो पायी थी कि विवर्ण पुंडरीक कपिंजल का हाथ पकड़े आसमान से उतरा। यह देख कादम्बरी चन्द्रापीड़ के शरीर को वहीं छोड़ महाश्वेता के समीप दौड़ कर गयी। महाश्वेता से लिपट कर उसने पुंडरीक के शुभागमन का समाचार सुनाया। पुंडरीक चन्द्रापीड़ के निकट गया। वह उसका आलिंगन कर बोला—प्रिय सखे, पूर्वजन्म के सम्बन्ध से तुम मेरे दामाद हुए।

जब से दुःखद समाचार मिला था तारापीड़ और विलासवती मृत्युंजय का जप कर रहे थे। मदलेखा तब से उनके निकट पहुँची। फिर उनके चरणों पर गिरकर सोल्लास कहने लगी—'युवराज और वैशम्पायन दोनों फिर जीवित हो उठे हैं।' राजा वानप्रस्थ का सा जीवन बिता रहा था। मदलेखा की बात सुनते ही वह हर्षोल्लास से उठा और उसने उसे अपनी भुजाओं में कस लिया, फिर रानी विलासवती का गाढ़ालिंगन कर शुकनाश को निरन्तर भेंटता वह पहुँचा। उसके पीछे उसका परिजन था जो उसी की भाँति आनन्द-मग्न और प्रफुल्ल था। राजा निरन्तर पूछ रहा था—'कहाँ है ? कहाँ है ?'

जिस प्रकार तारापीड़ शुकनास के गले लगा हुआ था उसी प्रकार चन्द्रापीड़ को अपने मित्र वैशम्पायन (पुण्डरीक) के गले लगा हुआ था। यह देख शुकनास ने कहा—'सौभाग्य की बात है कि पुत्र के जीवित होने का हर्षोल्लास और सुख मैंने अकेले नहीं भोगा।' इतने में चन्द्रापीड़ ने पिता को देख लिया था। मित्र से हटकर वह हर्ष के आवेग में पिता के चरणों में लिपट गया।

महाकवि बाणभट्ट-रचित

हर्षचरित-कथा-सार

स्थाणीश्वर एक सुरम्य और समृद्ध नगर था और श्रीकण्ठ जनपद की राजधानी था। स्थाणीश्वर में राजा पुष्पभूति के वंशधर महाराजाधिराज प्रभाकर वर्धन राज्य करते थे। प्रभाकर वर्धन ने हूणों को परास्त किया, सिन्धु, गुर्जर, गान्धार, लाट और मालव देशों को पराजित किया, अतएव उन्हें 'प्रतापशील' भी कहा जाता था। प्रभाकर वर्धन को साम्राज्ञी यशोमती के गर्भ से राज्यवर्धन, हर्ष और राज्यश्री मिलीं मानो उन्हें शिव, सूर्य और लक्ष्मी प्राप्त हुई हों और उनके जप, तप सफल हुए हों। राज्यवर्धन ज्येष्ठ पुत्र थे और राज्यश्री सबसे कनिष्ठा। जब ज्योतिषियों ने बालक हर्ष को देखा तो उन्होंने भविष्यवाणी कर दी कि यह बालक महाप्रतापी चक्रवर्ती होगा क्योंकि 'पूत के पैर पालने में ही दीख जाते हैं।'

राजसामन्तों के मनोविनोद के लिए मालव के राजकुमार कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त तथा यशोमती के भ्राता का पुत्र भण्डि थानेश्वर आकर रहने लगे। शनैः शनैः राज्यश्री ने यौवन में पदार्पण किया। वह नृत्य-गीत आदि ललित कलाओं में पारंगत थी। अतः उसके योग्य वर की चिन्ता ने प्रभाकर वर्धन को चिन्तित कर दिया। सौभग्यवश मौखर वंशधर राजा अवन्तिवर्मा के ज्येष्ठ पुत्र ग्रहवर्मा को राज्यश्री के लिए उपयुक्त वर निश्चित किया गया। इस प्रणय-संबंध की बात पक्की हो गयी।

विवाह की धूमधाम से तैयारियाँ होने लगीं। पान सुपारियों का एवं पुष्पहार का वितरण हुआ। देश-विदेश के शिल्पियों ने विवाह-मण्डप के निर्माण में अपने कलाचातुर्य का पूर्ण प्रदर्शन किया। नगाड़े गूँजने

लगे। भाँति-भाँति के लोकाचार जैसे सिल, ओखली, मूसल आदि पर ऐंपन से थापे लगाना, देवी-देवताओं (इन्द्राणी आदि) का आवाहन, पूजा-प्रतिष्ठा, विवाह-वेदिका का निर्माण, महलों को सजाना, दहेज में दिये जाने वाली वस्तुओं तथा हाथी घोड़ों आदि की देखभाल एवं गणना, वाटिकाओं एवं उपवनों को सजाया गया।

परिचारकों ही ने नहीं अपितु छोटे-छोटे सामन्तों एवं राजाओं ने भी यथाशक्ति इस मंगलमय कार्य में सहयोग दिया।

सावरक (जरी के काम वाले) वस्त्र, विविध प्रकार के रंगीन एवं छपे वस्त्र, रेशमी फीते, सुन्दर गोल दर्पण, हाथीदाँत के प्रसाधन के डब्बों आदि से समस्त राजमहल एवं विवाहमण्डप खचाखच भरा हुआ था।

निशा के प्रथम प्रहर के पूर्व ही राज्यश्री षोडश शृङ्गार से अलंकृत हुई। अनेक रानियों ने ही दासियों की भाँति विविध प्रकार के प्रसाधन, वस्त्राभूषण और मंगलोपचारों से राज्यश्री के सर्वाङ्ग सौन्दर्य में अभिवृद्धि की। गृहवर्मा मल्लिका-पुष्पहारों से सुसज्जित होकर सुसज्जित गजराज पर चढ़कर बड़े गाजे-बाजे के साथ विवाहस्थल में आ पहुँचे और उसी शुभलग्न में विवाह-विधि सम्पन्न हुई।

पुष्पभूति और मौखर वंश के इस परिणय-बन्धन की सभी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

श्वशुर गृहमें ग्रहवर्मा केवल १० दिन रहा। तत्पश्चात् वह राज्यश्री को वहाँ से विदा कराकर ले गया। उन दिनों भारत पर हूणों का आक्रमण बहुत पहले ही आरम्भ हो चुका था। गान्धार, काश्मीर और शाकल पर उनका अधिकार था। प्रभाकर वर्द्धन ने हूणों को अनेक युद्धों में परास्त किया था। राज्यवर्द्धन के बड़े होते ही उसे भी विश्वासपात्र मन्त्रियों और महासामन्तों के साथ हूणों से लड़ने के लिये उत्तरापथ भेजा

गया। यद्यपि अभी हर्ष छोटा था; तथापि भाई के साथ कुछ शिविरों (पड़ावों) तक गया। उसकी इच्छा आखेट खेलने की थी और वह सेना से अलग होकर हिमालय के जंगलों में इसी प्रयोजन से रह गया।

हर्ष को कुछ दिनों के उपरान्त ही खबर मिली कि स्थाणीश्वर में पिता अस्वस्थ हैं। हर्ष उसी समय राजधानी की ओर चल दिया। मार्ग में अनेक अपशकुन होने लगे। हर्ष के पास भोजन करने के लिए भी समय नहीं था। दूसरे दिन ही वह सेना-शिविर में पहुँच गया। शिविर से लेकर राजद्वार तक अनेक धार्मिक और तान्त्रिक अनुष्ठान किये जा रहे थे। राज-द्वार पर हर्ष को सुषेण वैद्य ने बताया कि राजा का स्वास्थ्य अच्छा नहीं, कदाचित् हर्ष को देखकर कुछ सुधरे। तीसरी कक्ष के धवल-गृह में शान्ति छा रही थी। शीतवायु के निवारणार्थ गवाक्ष और पक्ष-कपाट भी बन्द थे। सीढ़ियों पर पदध्वनि करना वर्जित था। प्रभाकर वर्द्धन का ज्वर किसी उपचार से भी कम न हुआ था। हर्ष के आगमन पर भी राजा के स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ। पटरानी, हर्ष की मा यशोवती ने हर्ष के बहुत रोकने पर भी सती धर्म निबाहा। मा की मृत्यु से अत्यन्त विकल होकर हर्ष जब पिता के पास पहुँचा तब वे भी उसे आशीर्वाद और राज्यपालन का आदेश देकर स्वर्ग सिधार गये।

हर्ष ने राजधानी पहुँचते ही राज्यवर्द्धन के पास शीघ्रगामी दूत भेज दिया था। किन्तु राज्यवर्द्धन हूण-युद्ध में अत्यन्त आहत हो चुके थे। इस कारण वे पिता के त्रयोदशा आदि के समाप्त होने पर ही स्थाणीश्वर पहुँच सके।

राज्यवर्द्धन राज्यैश्वर्य से बहुत विरक्त हो चुके थे अतः वे हर्ष को राज्यभार सम्भालने का आदेश देकर स्वयं तपस्वी बनने को तैयार हो गये। इसी समय एक संवादवाहक ने आकार सुनाया कि मालवराज ने सम्राट् प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु की खबर सुनते ही ग्रहवर्मा पर अचानक

आक्रमण कर दिया। ग्रहवर्मा वीरता से लड़ा किन्तु अन्त में वीरगति को प्राप्त हुआ। देवी राज्यश्री मालवराज के कारागार में है।

राज्यवर्द्धन विषाद को भूल कर वीरत्व के आवेश में आ गये। उन्होंने तुरन्त मालवराज पर धावा बोल दिया और हर्ष को राज्य सम्भालने का आदेश देते गये।

राज्यवर्द्धन के प्रस्थान करने के पश्चात् हर्ष अकेले-अकेले कुछ चिन्ताग्रस्त रहने लगा। एक रात उसने विचित्र स्वप्न देखा कि लोह-स्तम्भ फट कर गिर पड़ा। तत्पश्चात् देखा कि भगवान् भास्कर पर राहु झपट रहा है। सप्तर्षि जैसे धूमकेतु बन गये हों, दिशाओं में भयंकर आग जल रही हों, आकाश से उल्कापात हो रहा हो और भीषण झंझावात ने धूल के बादल उठा दिये हों।

दूसरे दिन राज्यवर्द्धन का विश्वस्त अश्वारोही कुन्तल राज्यसभा में हर्ष से मिला। उसने सावधानी से हर्ष को कहा कि राज्यवर्द्धन ने मालवराज को परास्त कर दिया परन्तु गौड-राज्य शशांक ने उसको अतिथि सत्कार द्वारा प्रसन्न कर विश्वासघात करके निःशस्त्र अवस्था में मार डाला।

हर्ष के क्रोध और दुःख की सीमा न रही। महासेनापति सिंहनाद ने हर्ष के वीरत्व को जागरित करने के लिए अनेक बातें कहीं। हर्ष ने शशांक को दण्ड देने और अन्य षडयन्त्र-तत्पर राजाओं को परास्त करने का संकल्प किया। उसने महासन्धिविग्रहाधिकृत को आदेश किया कि समस्त शत्रु-मण्डली को सूचित कर दिया जाय कि या तो वे अधीनता स्वीकार करें या युद्ध-भूमि में आ जायँ। हर्ष ने 'चतुर्दिग्विजय' की प्रतीज्ञा कर ली। राजसभा समाप्त कर वह आह्निक कर्मों का सम्पादन करने अन्तःपुर की ओर चला गया।

दूसरे दिन प्रातः होते ही उसने गजसाधनाधिकृत स्कन्दगुप्त से मुलाकात की। स्कन्दगुप्त से अनेक परामर्श कर हर्ष ने गज-सेना को



हर्षवर्द्धन ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया (पृ० ३१)

प्रस्तुत करने का आदेश दिया। शुभमुहूर्त्त में राज्य-शासन का सुप्रबन्ध कर हर्षवर्द्धन ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। इस दिग्विजय-यात्रा से पूर्व हर्ष ने समस्त सेना की अध्यक्षता स्वयं ग्रहण की। उसने अधीनस्थ राजाओं का यथोचित सम्मान किया। प्राग्-ज्योतिषेश्वर कुमार के दूत हंसवेग द्वारा लाई गई भेंट स्वीकार कर उसके साथ पूर्ण मैत्री का सन्देश भेजा।

कुछ आगे बढ़ने पर हर्ष की भण्डि से भेट हुई। भण्डि मालवराज से युद्ध करने और राज्यवर्धन की विश्वासघातपूर्ण हत्या के उपरान्त शेष सेना के साथ हर्ष की ओर आगे बढ़ रहा था। भण्डि से हर्ष को यह ज्ञात हुआ कि दिवंगत ग्रहवर्मा की राजधानी कन्नौज पर अभी गुप्त नामक व्यक्ति का अधिकार है। राज्यश्री किसी प्रकार कौशल से कारागृह से भाग निकली है और विन्ध्याटवी की ओर चली गयी है। उसे ढूँढ़ने के लिए भण्डि ने अनेक दूत भेजे हैं, किन्तु कोई भी वापस नहीं आया है।

हर्ष ने जब बड़े भाई की हत्या और राज्यश्री के कारावास की घटना का समाचार सुना तब वह अत्यन्त व्यथित और विक्षुब्ध हुआ। उसने भंडि से कहा—'विधवा बहिन के अन्वेषण के लिए भाई को जाना चाहिए। अतः मैं स्वयं उसको ढूँढने के लिए जाता हूँ तुम सारी सेना लेकर स्वर्गीय पूज्य भ्राता की हत्या का बदला लेने के लिए गौड़-राज्य शशांक एवं उसके राज्य का विध्वंस कर डालो।'

दूसरे दिन भंडि द्वारा एकत्र किये हुए जीत के सामान और युद्ध-बन्दियों का निरीक्षण करने के पश्चात् हर्ष ने उनका प्रबन्ध किया और भंडि तथा अन्य विश्वस्त सेनानायकों के साथ भावी कार्यक्रम के विषय में विचार भी किया। तदनन्तर वह शीघ्र ही विन्ध्याटवी की ओर चल पड़ा और कुछ पहाड़ों पर विश्राम लेता हुआ विन्ध्याटवी में प्रवेश किया।

विन्ध्याटवी अत्यन्त विस्तृत और गहन वन था। जहाँ वन आरम्भ होता है वहाँ पर ही वन्य-जातियों की एक बस्ती थी। उनका काम कृषि-कर्म करना और कोयला फूँकना, लकड़ी काटना तथा शिकार खेलना विशेष रूप से था। यहाँ के वनवासी नर एवं नारी वन्य-फल-फूल और ओषधि तथा लकड़ी आदि बटोर कर नगर में बेंचने भी जाते थे। चारों ओर गन्नों के खेत और बस्ती की सीमा पर काँटेदार पेड़ दिखाई देते थे। जंगली जानवरों और राज्य के वनपालों द्वारा लोग पिड़ित किये जाते थे। बीचों बीच एक चंडी-मंडप था। कुछ-कुछ खेतों पर हलके स्थान पर कुदाली से लोहे के तवे की तरह कड़ी काली मिट्टी को खोदकर कृषि की जाती थी।

जंगल एवं बस्ती के कुछ उपान्त भागों में पथिकों के लिए प्याऊ एवं विश्राम-स्थानों की व्यवस्था की गयी थी। कहीं-कहीं पर गन्ने के रस से पूर्ण घट भी रखे हुए थे। कुणबी जंगली जाति के लकड़हारे तथा व्याध जंगल में विचरण कर रहे थे। कुछ ग्रामीण लोग वन्यसामग्री सिर पर लादे शीघ्रता से शहर की ओर जा रहे थे। कोई शिर पर सेंहुड़ की छाल का गट्ठा, तो कोई धाय के ताजे लाल फूलों से भरी बोरियां ले जा रहा था। कुछ लोगों ने कपास, अलसी और सन के मुट्ठे इकट्ठे किए थे। मधु, मोम, मोर-पंख, खस (लामज्जक) कूठ और कत्थे की लकड़ी और लोध के भार भी लोगों के सिर पर दिखाई दे रहे थे। स्त्रियां वन्य फलों को बीनकर बेचने के लिये जा रही थीं। जंगल में यत्र-तत्र झूम की कृषि भी हो रही थी। यत्र-तत्र खेतों को अधिक उत्पादक बनाने के लिए बैलगाड़ियों में लादकर पुराना खाद-कूड़ा ले जाया जा रहा था।

रखवारे गन्ने के खेतों में चलते हुए हरिणों पर डंडे और तीर चला रहे थे। खरहों को डराने के लिए खेतों में गड़े हुए जंगली भैंसों के सींग, यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो रहे थे। कंटीले करौंदा और बांस की झाड़ियां,

एरंड, वच, बैंगन, तुलसी, जिमीकंद और सँहजन के ढेर लगे थे। लौकी की बेलें और वेदियों के मंडपों में बँधे बछड़े और कुकड़ूँकूँ बोलते हुए मुर्गों को देख हर्ष अत्यन्त प्रभावित हुआ। बाँस, नरकुल और सरकंडों से बनी झोंपड़ियाँ घर के आँगनों में चतुर गृहाङ्गनाओं द्वारा संगृहीत सेमल की रूई, कमलकाकड़ी, खंडशर्करा, मखाने, बाँस, तंडुल, समाल तथा वनौषधियों के ढेर, खिरनी, मैनफल, महुए की शराब से पूर्ण घड़े और कुसुम्भ, कुम्भ और गंड कुसूल जैसे मिट्टी के पात्र, रमाव, खीरा, ककड़ी और कुम्हड़ा की छाई हुई बेलें आदि को देख देखकर हर्ष का मन इस वन्य-श्री की ओर आकृष्ट तो हुआ किन्तु वह राज्यश्री को विस्मरण न कर सका।

हर्ष ने एक रात विश्राम किया तदनन्तर उसने विन्ध्याटवी में प्रवेश किया कई दिन हर्ष इधर-उधर भटका; किन्तु अन्त में आटविक सामन्त शरभकेतु के पुत्र व्याघ्रकेतु ने एक शबरयुवा को उपस्थित किया। उसका नाम निर्घात था और शबरराज भूकम्प उसका मामा था। उसका शरीर काला और चिकना था। वह हृष्ट-पुष्ट शरीर का था किन्तु उसके कृष्ण केशपरिवृत शिर, चपटी नाक बीच में दबी हुई, गालों और ठोढ़ी की हड्डी उभरी, जबड़े और अधर चिपटा था। उसकी भौंहें तनी थीं जिनके बीच त्रिशूल बना था। उसके कानों के ऊपर तोते के पंख और नीचे काँच के बाले पड़े थे। उसकी चिप-चिपी लाल आँखें, कोत गर्दन और लटके कंधे, चौड़ी छाती और लम्बी भुजाएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। उसके पास एक तेज कटार थी और धनुष-बाण थे।

शबर युवक ने सिर से पृथ्वी छूकर हर्ष को अभिवादन किया। जब हर्ष ने राज्यश्री के बारे में पूछा तब उसने हर्ष से कहा कि दिवाकरमित्र नामक एक पाराशरी भिक्षु के पास चलिए। हर्ष उसका नाम पहले भी

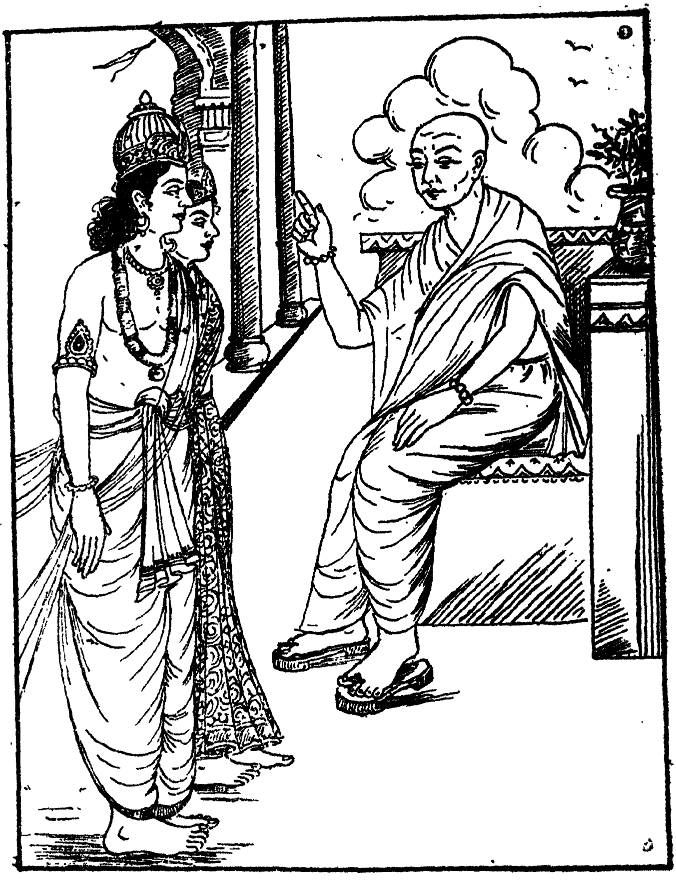
ग्रहवर्मा से सुन चुका था। वह दिवाकरमित्र के आश्रम की ओर चल पड़ा।

दिवाकरमित्र के आश्रम को देख हर्ष का हृदय बहुत प्रभावित हुआ। वह आश्रम बौद्ध विद्या की प्रमुख संस्था थी। दिवाकरमित्र का शरीर लाल चीवर से ढका था। उनके आसन के दोनों ओर दो सिंह के बच्चे बैठे हुए थे। बाँये हाथ से वे एक कपोत के बच्चे को नीवार खिला रहे थे। दिवाकरमित्र की तेजस्वी मुख मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों यमनियम, आर्यदश-गुण और सारी विद्याओं ने यहीं जन्म ले लिया हो। वे बहुत ही प्रतिभाशाली तपस्वी थे।

जब हर्ष अपनी दुःख-गाथा दिवाकरमित्र को सुना रहा था, तभी एक भिक्षु ने आकर समाचार दिया कि एक सुन्दर युवती विधवा चिता-रोहण के लिए प्रस्तुत है। उसे रोकना चाहिए। वर्णन को सुनकर हर्ष समझ गया कि यही उसकी बहिन राज्यश्री है।

दिवाकरमित्र और हर्ष राज्यश्री की चिता की ओर दौड़े, उनके साथ कुछ शिष्य और सेना की एक टुकड़ी थी। हर्ष ने वहाँ पहुँचते ही राज्यश्री को चितारोहण से रोका। दिवाकरमित्र ने भी अपने धार्मिक उपदेशों से राज्यश्री का शोक दूर किया। हर्ष को दिवाकरमित्र ने अद्भुतगुणमयी मन्दाकिनी माला भी दी। राज्यश्री ने तपस्विनी बनने की इच्छा प्रकट की किन्तु दिवाकरमित्र ने उसे बहुत समझाया जिससे वह हर्ष के साथ वापस लौटने के लिए तैयार हो गयी।

हर्ष ने निर्घात शबर को बहुत पुरस्कार दिया और एक रात दिवाकरमित्र के आश्रम में सद्धर्म के उपदेश सुनकर व्यतीत की। तत्पश्चात् वह पड़ावों के बाद दिवाकरमित्र और राज्यश्री के साथ गंगा के किनारे अपने शिविर में वापस आया।



हर्ष ने दिवाकरमित्र से सद्धर्म के उपदेश सुने (पृ० ३४)

महाकवि कालिदास

संक्षिप्त परिचय

संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास का नाम अमर है। ये संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि माने जाते हैं। महाकवि कालिदास की सी प्रतिभा, काव्यनिर्माण शक्ति अन्य कवियों में लक्षित नहीं होती। इनकी रचनाओं में स्वाभाविकता एवं सरलता अनन्य गुण हैं। आज के संसार के विद्वान् इस महाकवि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। संस्कृत साहित्य में प्राचीन लेखकों एवं कवियों का परिचय नहीं मिलता। कारण, वे निरभिमान थे और अपनी प्रशंसा करना उचित नहीं समझते थे।

भारतीय प्राचीन पण्डितों में कालिदास के जीवनचरित के विषय में एक बड़ी रोचक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि कालिदास विवाह के पहले वज्र मूर्ख थे। एक बार कुछ पण्डित इन्हें पकड़ कर एक राजा की सभा में ले गये। पण्डितों ने राजा के पास इनकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा की। राजा ने प्रसन्न होकर इनके साथ अपनी लड़की का विवाह कर दिया। यह लड़की भी बड़ी विदुषी थी। विवाह के बाद जब उसे मालूम हुआ कि उसका पति मूर्ख है तो उसने इन्हें घर से बाहर निकाल दिया। कालिदास बहुत दुःखी हुए। वे वहाँ से सीधे भगवती काली के मन्दिर में गये। इन्होंने भगवती के चरणों पर अपनी जीभ काट कर चढ़ा दी। कहा जाता है कि इस पर भगवती प्रसन्न हुई। भगवती के प्रसाद से कालिदास सब शास्त्रों के पण्डित और कवि हो गये। इसके बाद वे फिर अपने घर लौटे। इनके आगमन का समाचार सुनकर इनकी पत्नी (राजकुमारी) बाहर आयी। उसने संस्कृत में इनसे पूछा—'अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः?' कहा जाता है कि कालिदास

ने उसके इस वाक्य के तीनों शब्दों को लेकर तीन काव्य बना डाले। 'अस्ति' से 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' इत्यादि कुमारसंभव महाकाव्य, 'कश्चित्' से 'कश्चित् कान्ता' इत्यादि मेघदूत खण्डकाव्य तथा 'वाग्' से 'वागर्थाविव' रघुवंश महाकाव्य रचा।

दूसरी किंवदन्ती इस विषय में यह है कि कालिदास सिलोन के राजा कुमारदास के मित्र थे। ये एक बार अपने मित्र से मिलने सिलोन गये। वहाँ इनको दरबार की एक नर्तकी ने मार डाला।

इनके जन्मस्थान के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि ये महाकवि काश्मीर के निवासी थे, क्योंकि इनकी रचनाओं में वहाँ के फूलों एवं वनस्पतियों के नाम मिलते हैं। विंसेंट स्मिथ एवं महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इन्हें मालवदेश के मन्दसोर (प्राचीन दशपुर) नामक प्रसिद्ध नगर का निकटवर्ती किसी पुण्य स्थान का निवासी बतलाया है।

इनके समय के सम्बन्ध में भी मत-भेद है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि ये विक्रमादित्य के समकालीन थे और विक्रमादित्य का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी है।

अन्य विद्वानों के अनुसार इनका समय ईसा की चौथी या पाँचवीं शताब्दी के बीच गुप्त वंश का राज्य-काल है। उस समय मालव देश के अन्तर्गत उज्जयिनी महाराज विक्रमादित्य की राजधानी थी। महाकवि कालिदास महाराज विक्रमादित्य की राजसभा में प्रधान पण्डित के पद पर थे।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश, शाकुन्तल, कुमारसम्भव, मेघदूत, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, ऋतुसंहार और पुष्पबाणविलास नामक ग्रन्थों की रचना की।

महाकवि-कालिदास-रचित

रघुवंश-कथासार

रघुवंश के प्रवर्त्तक प्रख्यात रघु के पिता महाराज दिलीप, पृथ्वी के सर्वप्रथम चक्रवर्ती राजा वैवस्वत मनु के पवित्र एवं उज्ज्वल कुल में उत्पन्न हुए थे। दिलीप महाप्रतापी और वीर राजा थे, मानो क्षात्रधर्म की साक्षात् मूर्ति हो। वे जितने वीर थे उतने ही बुद्धिमान्, गुणवान् तथा विद्वान् भी और साथ ही साथ बड़े कर्मशील भी थे।

उनकी महारानी सुदक्षिणा का उनके साथ ऐसा ही अटूट सम्बन्ध था जैसा यज्ञ की संगिनी दक्षिणा का। वह मगध वंश में उत्पन्न हुई थी। राजा को संसार के समस्त सुख सुलभ थे, केवल एक सुख से वे वंचित थे। सन्तान प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने के ध्येय से राजा ने राज्यभार को मन्त्रियों के कंधों पर डाल दिया और महारानी सुदक्षिणा के साथ दिन अस्त होने के समय अपने कुलगुरु वसिष्ठ जी के आश्रम में पहुँचे।

वहाँ पहुँच कर राजा दिलीप ने सारथी को आज्ञा दी कि घोड़े को आराम दो। स्वयं रथ से उतरे और फिर रानी को उतारा। शिष्टाचार के नियमों से परिचित तपस्वी लोगों ने राजा का यथोचित आदर सत्कार किया। ऋषि वसिष्ठ जब सायंकाल के संध्योपासन से निवृत्त हो गये, तब राजा और रानी उनकी सेवा में उपस्थित हुए। ऋषि के समीप उस समय उनकी पत्नी अरुन्धती ऐसी विराजमान थीं, जैसे स्वाहा यज्ञ की अग्नि के समीप विराज रहीं हों। राजा और राजपत्नी ने ऋषियुगल के चरणों में झुककर अभिवादन किया। ऋषि और ऋषिपत्नी ने उन्हें आशीर्वाद दिया।

जब ऋषि को सन्तोष हो गया कि अतिथि पूजा से राजदम्पती की थकान दूर गयी है, तब उन्होंने राज्य के कुशल-क्षेम के सम्बन्ध में पूछा। राजा ने उत्तर दिया—'भगवन्, आपकी असीम कृपा से राज्य में कुशल है। आपके मन्त्रों के प्रभाव ने मेरे बाणों को निरर्थक सिद्ध कर दिया है। मेरी प्रजा सौ वर्ष तक जीती है और उसे किसी प्रकार का भय नहीं। यह आपके ही ब्रह्मतेज का फल है। यह सब कुछ है, तथापि गुरुवर, यह रत्नगर्भा, सप्तद्वीप सहित पृथ्वी मेरे मन को संतुष्ट नहीं कर रही है। कारण, आपकी इस बहू की गोद सन्तान-रत्न से शून्य है।

सन्तान के बिना पितृ-ऋण का सन्ताप मुझे निरन्तर तपा रहा है। भगवन्, ऐसा कीजिए कि मैं इस पितृ-ऋण से उन्मुक्त हो सकूँ। इक्ष्वाकु वंश के लोग आप की ही कृपा से प्रत्येक विपत्ति को पार करते हैं।'

महाराज दिलीप के वचन सुन ऋषि वसिष्ठ क्षणभर आँखें मुँदकर ध्यान में मग्न रहे, मानो किसी तालाब में सब मछलियाँ सो गई हों। ध्यानावस्था में वसिष्ठजी ने जो कुछ देखा, वह राजा को इस प्रकार बतलाया:—

'राजन्, एक बार जब तुम देवेन्द्र से मिल कर स्वर्ग से पृथ्वी की ओर आ रहे थे, सुरभि गौ कल्पवृक्ष की छाया में विश्राम कर रही थी। रानी के ऋतुस्नाता होने के प्रयोजन से तुम घर आने की जल्दी में थे, और पूजा के योग्य सुरभि की उपेक्षा करके आगे बढ़ गये। सुरभि ने इस अपमान से रुष्ट होकर तुम्हें शाप दिया कि जब तक तुम मेरी संतान की सेवा न करोगे, तब तक तुम्हें सन्तान-सुख प्राप्त न होगा। जो पूजा के योग्य हैं, उनका अपमान करने से मनुष्य के सुखों का द्वार अवरुद्ध हो जाता है। सुरभि आजकल प्राचेतस् के यज्ञ के हेतु पाताल में गई है। उसकी पुत्री हमारे इस आश्रम में विद्यमान है।

सपत्नीक तुम उसे सेवा से संतुष्ट करो, तुम्हारे मनोरथ की पूर्ति अवश्य होगी।

ऋषि का कथन अभी समाप्त भी न हुआ था कि वन से लौटती हुई नन्दिनी नाम की गौ सामने आ गई। नन्दिनी का रंग नई कोंपल का-सा चिकना और सन्ध्या की लालिमा के समान सुन्दर था। उसके खुरों से उठनेवाले रज के रेणुओं में स्नान करके राजा ने मानो तीर्थ-स्नान किया हो। ऋषि ने नन्दिनी के उस समय के दर्शन को मनोरथ-सिद्धि के लिए शुभ बतलाते हुए राजा से कहा :—

'राजन्, नाम लेते ही यह कल्याणी सामने आ गई, इससे तुम अपना मनोरथ पूर्ण हुआ समझो। निरन्तर सेवा से नन्दिनी को प्रसन्न करो। इसके चलने पर चलो, ठहरने पर ठहरो, बैठने पर बैठो और जल पीने पर जल पीओ। बहू को भी चाहिए कि इसकी पूजा करे। जब तक नन्दिनी प्रसन्न न हो तब तक तुम इसकी निरंतर सेवा करो। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।

राजा ने अवनत सिर से गुरु के आदेश को अंगीकार किया।

जब प्रातःकाल हुआ तब महारानी सुदक्षिणा ने नन्दिनी का गन्धाक्षत और माला से सत्कार किया। जब बछड़ा दूध पीकर बाँधा जा चुका, तब यशस्वी राजा ने गौ को खूँटे से खोल दिया। नन्दिनी के खुरों के स्पर्श से पवित्र वनमार्ग पर, महारानी भी पीछे-पीछे उसी प्रकार चलीं जिस प्रकार स्मृतियाँ वेदों का अनुसरण करती हैं। दयालु राजा ने पत्नी को वन जाने से रोककर नन्दिनी की रक्षा का बोझ अपने कन्धों पर लिया, मानो चार स्तनरूपी समुद्रोंवाली पृथ्वी की रक्षा का भार सँभाला हो। वन में दिलीप ने नन्दिनी के भोजन के लिए स्वादु-स्वादु कोमल घास एकत्र की, खुजली होने पर खुजलाया, जंगली मक्खियाँ हटाया और मार्ग की बाधाओं को दूर करके इच्छानुसार घूमने का

मार्ग साफ किया। लताओं के केशों का जूड़ा बाँधे हुए मुनिवेश में वह नरपाल मुनि की होम-धेनु की रक्षा के बहाने से हिंसक जन्तुओं को नियन्त्रण में लाने के लिए वन में घूम रहा था। सब सेवकों का विसर्जन कर देने के कारण बिल्कुल एकाकी वह वरुण देवता के समान प्रभावशाली राजा जिस मार्ग से निकलता था, उसके दोनों ओर लगे हुए वृक्ष चहचहाते पक्षियों के शब्दों के रूप में उसका जय-जयकार करते थे। दिन समाप्त हो जाने पर, अपने परिभ्रमण से दिशाओं को शुद्ध करके, कोंपल के समान, ताम्रवर्ण सन्ध्या सी मुनि की गौ घर की ओर लौटी। जिसके दूध से देवता, पितृगण और अतिथियों की तृप्ति होती थी राजा उस पवित्र गौ के पीछे-पीछे चला। दुग्धपूर्ण स्तनों के कारण नन्दिनी और शरीर के विशाल डील-डौल के कारण राजा दिलीप, दोनों ही ऐसी शानदार चाल से चलते थे कि आश्रम के मार्ग की शोभा दसगुनी हो गयी थी।

मुनि वसिष्ठ की गौ के पीछे-पीछे आते हुए पति को सुदक्षिणा अत्यन्त प्यासे नेत्रों से देर तक एकटक निहारती रही। आगे राजा, पीछे रानी और बीच में नन्दिनी, आश्रम में इस क्रम से जब वे तीनों पहुँचे, तो ऐसा लगता था मानो दिन और रात के बीच में सन्ध्या पधार रही हो।

राजा की दिनचर्या इसी प्रकार बीतने लगी। वह रात्रि को नन्दिनी के सो जाने पर सोता, प्रातः उसके उठने के पूर्व उठता और दिन चढ़ने पर नन्दिनी के पीछे-पीछे धनुष हाथ में लेकर वन चला जाता। सम्राट् और साम्राज्ञी को व्रत-पालन करते हुए इक्कीस दिन हो गये।

एक दिन नन्दिनी अपने सेवक के भाव की परीक्षा करने के लिए गंगा के प्रपात के निकट हरी-हरी घास से शोभित हिमालय की गुफा में प्रविष्ट हो गयी। इस भावना से राजा दिलीप बिल्कुल निश्चिन्त था

कि मुनि की यज्ञ-धेनु का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता और पर्वत की शोभा निहार रहा था कि इतने ही में एक शेर ने धेनु को धर दबाया। धेनु का आर्तनाद गुफा से प्रतिध्वनित होकर गूँज उठा, जिसने हिमालय में लगी हुई राजा की दृष्टि को वरवस अपनी ओर आकृष्ट किया। धनुर्धारी दिलीप ने देखा कि उस पाटल गौ के निकट केसरी शेर खड़ा है। उसका हाथ स्वभावतः तूणीर से तीर निकालने के लिए बढ़ा। परन्तु राजा के दुःख और आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने अनुभव किया कि उसका दक्षिण हस्तनख की प्रभा से रँगे हुए तीर की केरी पर पहुँचकर वहीं रुक गया और ऐसा गति-हीन हो गया मानो किसी चित्र का अंग हो।

भुजा के शक्तिहीन हो जाने पर राजा अपने दिव्य तेज से अन्दर ही अन्दर झुलसने लगा। बलिष्ठ हाथ के रुक जाने से क्रोध और आश्चर्य निमग्न राजा के आश्चर्य को और अधिक बढ़ाता हुआ सिंह मनुष्य-वाणी में कहने लगा:—

'राजन् अपना हाथ तूणीर से हटा लो। जो वायु का झोंका वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर फेंक देता है, वह सुदृढ़ चट्टान से टकरा कर व्यर्थ हो जाता है। तुम मुझे साधारण सिंह मत समझो। कैलास पर्वत के समान श्वेत वृषभ पर बैठते समय, भगवान् शंकर मेरी पीठ को पायदान बनाकर पवित्र करते हैं। मेरा नाम कुम्भोदर है, मैं भगवान् का सेवक हूँ। यह जो देवदारु का वृक्ष सामने दिखाई दे रहा है, इसे मेरे स्वामी ने अपना बच्चा माना हुआ है। जैसे छाती के दूध से बच्चे को पाला जाता है उसी प्रकार माता पार्वती ने स्वर्ण कलस से पानी देकर इसे पाला है। एक बार एक जंगली हाथी ने पीठ खुजला कर इसकी छाल उतार दी थी। उसी समय से भगवान् शंकर ने मुझे इस वृक्ष की रखवाली के लिए नियुक्त कर दिया है और यह नियम बना दिया

है कि जो शिकार यहां स्वयं आ जाय उसी से अपनी उदर-पूर्ति करता रहूँ। आज परमेश्वर ने मेरी भूख के निवारण करने के लिए यह आहार भेजने की कृपा की है। हे राजन्, जिसकी रक्षा करनी हो, यदि यत्न करने पर भी शस्त्रों से उसकी रक्षा न हो सके तो शस्त्रधारी का इसमें कोई दोष नहीं। इसमें लज्जा की क्या बात है? तुमने गुरु-भक्ति प्रकट कर दी, अब तुम घर लौट जाओ।'

राजा ने सिंह से कहा—'हे मृगेन्द्र, निःसन्देह मेरा हाथ शंकर के प्रभाव से रुक गया है, इस कारण सम्भव है मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे सुन कर तुम्हें हँसी आ जाय। सृष्टि की रचना, रक्षा और संहार करनेवाले भगवान् के सामने मैं सिर झुकाता हूँ, परन्तु मैं गुरु के यज्ञ के साधन-भूत इस गोधन को नष्ट होते किसी प्रकार भी नहीं देख सकता। इस कारण हे वन के स्वामी, अपनी भूख की निवृत्ति मेरे शरीर से कर लो। सन्ध्या के समय महर्षि की इस धेनु का बछड़ा अपनी माँ की बाट जोह रहा होगा, अतः इसे छोड़ दो।'

देवाधिदेव शंकर भगवान् का सेवक सिंह राजा दिलीप की बात सुनकर कुछ हँसकर कहने लगा। उस समय उसके बड़े-बड़े दाँतों की सफेद किरणों से गुफा का अन्धकार नष्ट हो रहा था। उसने कहा:—

'एक तुच्छ बात के लिये सब कुछ त्याग देने का संकल्प करते हुए तुम मुझे अज्ञानी प्रतीत होते हो। यदि तुम दया के कारण अपनी बलि दे रहे हो तो जरा विचार करो कि तुम्हारे मरने से केवल एक गौ बच सकेगी और यदि तुम जीवित रहोगे तो चिरकाल तक पिता के समान, सम्पूर्ण प्रजा की आपत्तियों से रक्षा कर सकोगे।'

वह केसरी इतना कहकर मौन हो गया। राजा उसका उत्तर देने लगा तो उसने देखा कि मुनि की गौ बहुत कातर आँखों से उसकी ओर निरन्तर निहार रही है। राजा ने कहा—'क्षत्रिय उसे कहते हैं, जो क्षत



दिलीप ने सिंह से कहा–'मुझे कलेवा बनाकर ऋषि की धेनु को छोड़ दो' (पृ० ४३)

(प्रहार) से निर्बल की रक्षा करे। यदि मैं नन्दिनी की रक्षा नहीं कर सका, तो ऐसी दशा में अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर और निन्दा से कलंकित प्राणों को बचा कर क्या करूँगा ? इस नन्दिनी गौ का कामधेनु के बराबर महत्व है। क्या असंख्य गौ भी इसकी बराबरी कहीं कर सकती हैं ?

यदि तुम्हें भगवान् शङ्कर का सहारा न होता, तो तुम इस पर प्रहार न कर सकते। अतः, हे मृगराज ! मैं अपने शरीर को मूल्यरूप में देकर तुमसे धेनु खरीदना चाहता हूँ। भगवान् की आज्ञा का पालन कर तुम प्राणपण से इस देवदारु के वृक्ष की रक्षा कर रहे हो। क्या इसी प्रकार गुरु की यज्ञधेनु की रक्षा में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना मेरा कर्तव्य नहीं है ? मेरे जैसे व्यक्ति धर्म के सामने अपने हाड़चाम के पिण्ड का कोई मूल्य नहीं समझते। आपस की बातचीत से ही तो सज्जनों की मैत्री का जन्म हो जाता है। वह हम दोनों में हो चुका। अतएव हे भगवान् शंकर के सेवक, मेरी पहली इच्छा का तिरस्कार न करो। मुझे कलेवा बनाकर ऋषि की धेनु को छोड़ दो।

सिंह ने उत्तर में कहा—'बहुत अच्छा।' उस समय राजा को ऐसा लगा कि उसके हाथों पर जो प्रतिबन्ध लगा था, वह हट गया। राजा ने अपने हथियार रख दिये और मांस के पिण्ड के समान अपने निश्चेष्ट शरीर को सिंह के आहार के लिए उपस्थित कर दिया।

प्रजाओं के पिता के समान सम्राट् दिलीप सिर झुका कर केसरी के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगे। राजा ने आश्चर्य से देखा कि आकाश से देवता उन पर पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। इतने में उसने सुना—'बेटा, उठो।' राजा ने आँखें उठाकर देखा तो वहाँ हिंसक जन्तु का कोई चिह्न भी नहीं था। हाँ, माँ के समान दूध बरसाती हुई नन्दिनी सामने खड़ी थी। राजा को आश्चर्य-निमग्न देखकर नन्दिनी ने कहा:—

'हे वत्स, मैंने अपनी माया के बल से तेरी परीक्षा ली, अन्यथा ऋषि के प्रभाव से मुझ पर तो यमराज भी आक्रमण नहीं कर सकता, साधारण हिंसक पशुओं की तो बात ही क्या ? तूने गुरु के प्रति भक्ति और मेरे प्रति दया के भाव से मुझे प्रसन्न कर लिया है। हे पुत्र, तू अभीष्ट वर माँग। मैं केवल दूध देनेवाली ही नहीं, कामनाओं की पूर्ति करने-वाली भी हूँ।'

नन्दिनी के इन वचनों से आश्वासन पाकर राजा ने हाथ जोड़ कर उस को प्रणाम किया और वर माँगा कि सुदक्षिणा की कोख से वंश का प्रवर्त्तक पुत्ररत्न उत्पन्न हो। नन्दिनी ने आशीर्वाद दिया कि—'ऐसा ही होगा'। तत्पश्चात् नन्दिनी हिमालय की गुफा से निकल आश्रम की ओर चल दी। आश्रम में पहुँचकर प्रसन्न-मुख राजा ने गुरु वसिष्ठ को शुभ समाचार सुनाया। दूसरे दिन प्रातःकाल ऋषि ने राजदम्पती को आशीर्वाद देकर विधिपूर्वक विदा किया।

नन्दिनी के वरदान के फल स्वरूप कुछ दिन पश्चात् रानी सुदक्षिणा गर्भवती हुई। दसवें मास में शुभ मुहूर्त में, इन्द्राणी के समान राजपत्नी ने पुत्ररत्न को उसी प्रकार जन्म दिया जैसे प्रभाव, उत्साह और मंत्रणा से सम्पन्न शक्ति अनश्वर सम्पत्ति को जन्म देती है। राजा ने उस बालक का नाम इस कारण 'रघु' रखा कि वह विद्यारूपी समुद्र को पार करे और शत्रुओं के अन्त तक जा पहुँचे।

सम्राट् दिलीप ने चक्रवर्ती आर्य राजाओं की पद्धति का अनुकरण किया और रघु को युवराज के पदपर नियुक्त करके सौ अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प किया। अश्व की रक्षा का कार्य युवराज रघु और उसकी अनुयायिनी राजपुत्रों की सेना को सौंप कर राजा यज्ञ करने में लग गया। इस प्रकार ९९ अश्वमेध यज्ञ बिना किसी विघ्नबाधा के पूरे कर लिये। जब सौवीं बार अश्वमेध का घोड़ा दिग्विजय के लिए

निकला तब युवराज और उसके धनुर्धारियों ने आश्चर्य से देखा कि अकस्मात् उनके सामने से घोड़ा अदृश्य हो गया है। कुमार की सेना घबरा कर रुक गई। उसी समय नन्दिनी धेनु मानों कुमार के संकट के निराकरण के लिए वहाँ आ पहुँची। रघु ने उसे दैवी संदेश समझ कर नन्दिनी के अंग जल से अपनी आँखों को धो डाला। तदनन्तर दिव्य आँखों से उसने देखा कि इन्द्र यज्ञ के घोड़े को लिये जा रहे हैं। रघु ने देवेन्द्र से कहा—हे देवेन्द्र, यदि आप ही धर्मात्मा लोगों के कार्यों में विघ्नकारी बनने लगेंगे, तो धर्म की क्या गति होगी? इस कारण भगवन् ,यज्ञों के अंग इस अश्व को आप छोड़ दीजिए। देवेन्द्र ने उत्तर दिया—तुम्हारा पिता यज्ञों द्वारा मेरे यश को मन्द कर रहा है। जैसे संसार में केवल एक विष्णु हैं और एक महादेव हैं, उसी प्रकार सौ यज्ञ करनेवाला शतक्रतु भी एक ही होता है। इस कारण मैंने तुम्हारे पिता के घोड़े का अपहरण कर लिया।

कुमार ने निर्भयतापूर्वक इन्द्र के वचन सुनकर हँसते हुए कहा—यदि आपका यही निश्चय है तो अपना हथियार सँभालिए। रघु को विजय किये बिना आप यज्ञ के घोड़े का अपहरण नहीं कर सकेंगे। रघु के चलाये बलवान् तीर की हृदय पर चोट खाकर देवेन्द्र का कोप भी उत्तेजित हो उठा। देवराज का बाण रघु की छाती पर जाकर लगा। इस पर कुमार का क्रोध भी प्रचण्ड हो गया और उसने मोर के पंख की आकृति वाले तीक्ष्ण बाण से इन्द्र की वज्रांकित ध्वजा को काट दिया। कुमार के इस अपूर्व बल और साहस को देख कर इन्द्र का रोष शांत हो गया क्योंकि मनुष्य अपने गुणों से ही ऊँचा पद प्राप्त कर सकता है।

तदनन्तर वज्रपाणि इन्द्र ने संतुष्ट होकर रघु से कहा—हे कुमार, मेरे जिस वज्र के आघात को चट्टानें भी नहीं सह सकतीं, उसे तूने सह लिया। मैं तेरी वीरता और साहस से प्रसन्न हुआ हूँ। अतः घोड़े के अतिरिक्त कोई वर माँग जो तू चाहता है? देवराज की बात सुनकर

कुमार ने मीठे स्वर में कहा—'प्रभो, यदि आप यज्ञ के अश्व को छोड़ना उचित नहीं समझते तो मेरी प्रार्थना है कि विधिपूर्वक यज्ञ समाप्ति पर पिता को यज्ञों के सम्पूर्ण फल का भागी बना दीजिए, जिससे कि अश्व के न लौटने पर भी यज्ञ सर्वांग सम्पन्न समझा जाय।'

'ऐसा ही होगा' इतना कह कर देवराज स्वर्गलोक चले गये।

इस प्रकार राजा दिलीप ने ९९ यज्ञ पूर्ण करके रघुकुल की मर्यादा के अनुसार अपने छत्र और चामर वीर पुत्र को सौंप दिये और देवी सुदक्षिणा को साथ ले वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने के उद्देश्य से तपोवन के वृक्षों की शीतल और शान्त छाया का आश्रय लिया। पिता से शासन का अधिकार पाकर रघु चमक उठा। अपने पराक्रम और बुद्धिबल से उसने राज्य में शांति की स्थापना कर दी। रघु का और सूर्य का प्रताप एक साथ निर्विघ्न रूप से दिशाओं में फैलने लगा। रघु के अभ्युदय से शत्रुओं के मन कलुषित होने लगे। विजययात्रा का संकल्प कर लेने पर रघु ने अश्वमेध की मांगलिक विधि की व्यवस्था की। तत्पश्चात् रघु ने राजधानी की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध किया, मार्ग की सुरक्षा के लिए राजभक्त और सशक्त सेनाएँ नियुक्त कीं और गुरुजनों से आशीर्वाद प्राप्त किया तथा दिग्विजय की यात्रा की घोषणा कर दी।

दिग्विजय की यात्रा का आरम्भ रघु ने पूर्व दिशा से किया। पूर्व दिशा के देशों पर विजय प्राप्त करता हुआ रघु आगे ही आगे बढ़ता गया; यहाँ तक कि उसकी सेनाएँ नारियल के वनों से श्यामल समुद्र-तट पर जा पहुँची। सुह्म देशवासियों ने अपनी प्राण रक्षा की। रघु ने और आगे बढ़ कर बंग लोगों को परास्त किया और गंगा की मध्यवर्ती धाराओं के द्वीपों में अपनी विजय-ध्वजाएँ फहरा दीं। रघु ने बंगों को उखाड़कर फिर से जमा दिया तो उन्होंने रघु के चरणों में अवनत होकर अधीनता स्वीकार कर ली। फिर कपिशा नदी से पार होकर उत्कल के राजाओं द्वारा प्रदर्शित मार्ग से कलिंग देश की ओर बढ़ा।

कलिंग-विजय के अनन्तर रघु ने दक्षिण की ओर प्रयाण किया। जिस दक्षिण दिशा में जाकर सूर्य का तेज भी मन्द पड़ जाता है वहाँ रघु के पहुँचने पर पाण्ड्य-जाति के लोग उसके प्रताप को न सह सके और अपने चिरसंचित यश के समान उज्ज्वल मोतियों की भेंट लेकर सेवा में उपस्थित हुए। उससे आगे बढ़कर रघु ने दक्षिण दिशा के सह्य पर्वत में प्रवेश किया। वहाँ से वह संयमी पारसीक लोगों को पराजित करने के लिए स्थल के मार्ग से प्रस्थित हुआ। पश्चिम के घुड़सवार योद्धाओं से उसका ऐसा घोर संग्राम हुआ कि धूल से लड़नेवालों का अनुमान धनुष की टंकार से ही किया जा सकता था। अन्त में वे मुकुट उतार कर उसके चरणों पर नतमस्तक हो गये।

तत्पश्चात् सूर्य के समान तेजस्वी रघु ने उत्तर दिशा के निवासियों को जल सदृश सुखा कर मिटा देने के लिए प्रयाण किया। काश्मीर में सिन्धु नदी के तट पर लौट कर विजेता के अश्वों ने अपनी थकान मिटायी। हूण योद्धाओं और कम्बोज को जीतने के पश्चात्, राजा रघु ने हिमालय पर चढ़ाई कर दी। भूर्जपत्रों की मर्मरध्वनि और बाँसों के जंगलों को गुञ्जित करनेवाले, गंगाजल के सम्पर्क से, शीतल पवनों ने हिमालय की चोटियों पर रघु का स्वागत किया। वहाँ राजा की सेनाओं का पर्वतीय जातियों से युद्ध हुआ। आगे कैलास पर्वत आरम्भ होता था। उसे तो रावण जैसा राक्षस भी हिला देगा, इसी विचार से मानो रघु ने उसे छोड़ दिया और हिमालय से नीचे उतर आया।

तदनन्तर विजयी रघु ने लौहित्य नदी को पार किया। तब प्राग्ज्योतिष् का शासक विजेता के रथों से उठे हुए सूर्य को ढक देने वाले मेघों को भी नहीं सह सका, सेनाओं की बात ही क्या? आगे बढ़ने पर कामरूप के राजा ने पराक्रमी रघु का स्वागत किया। इस प्रकार राज्य छत्र उतर जाने के कारण खुले हुए नरपतियों के मस्तकों पर, अपने रथ से

उठी हुई धूलि का टीका लगाता हुआ रघु राजधानी को लौट आया और विजय यात्रा में उपलब्ध अतुल सम्पत्ति का दान कर उसने विश्वजित् यज्ञ का आयोजन किया।

रघु के विश्वजित् यज्ञ में दूर-दूर देश के नरेश एकत्र हुए। जिस समय 'विश्वजित्' यज्ञ में सर्वस्वदान करने के कारण चक्रवर्ती सम्राट् रघु का कोश बिल्कुल खाली हो चुका था, उस समय वरतन्तु आचार्य का शिष्य कौत्स अपनी शिक्षा समाप्त करके गुरुदक्षिणा की खोज में वहाँ पहुँचा। सोने के सब पात्र दिये जा चुके थे, अतः रघु ने मिट्टी के पात्र में अर्घ्य प्रस्तुत किया। सत्कार करके सम्राट् रघु ने उसे आसन पर बिठाया और हाथ जोड़ कर प्रश्न किया :—

'हे मुनिवर, जिस मन्त्रवक्ताओं के अग्रणी ऋषिवर से तुमने सब विद्याएँ प्राप्त कीं हैं, वे कुशल से तो हैं ? महर्षि की त्रिविध तपस्या के मार्ग में कोई बाधा तो नहीं आती ? आश्रम के वृक्षों को, जिन्हें आश्रम-वासियों ने सन्तान की तरह पाल-पोस कर बड़ा किया है, वायु आदि के उपद्रवों से हानि तो नहीं पहुँचती ? केवल आपके आने से मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, मैं उत्सुक हूँ कि आपकी किसी आज्ञा का पालन भी करूँ।' दक्षिणा के अभिलाषी वरतन्तु मुनि के शिष्य कौत्स ने अर्घ्य के पात्र को देखकर ही अनुमान लगा लिया था कि रघु सर्वस्व दान कर चुके हैं। राजा की उदारवाणी सुन कर भी कौत्स की आशा हरी नहीं हुई और वह बोला :—

'हे राजन्, आश्रम में सब प्रकार से कुशल मंगल है। शासन की बागडोर आपके हाथ में रहते हुए यह संभव ही कहाँ कि प्रजा को कोई कष्ट हो ?

हे राजन्! पूज्यों के प्रति भक्ति की भावना रखना तुम्हारे कुल की अक्षुण्ण परम्परा है। चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त करके आज दान के कारण

आपकी यह धनहीनता शोभाजनक ही है। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं ऐसे समय पर आपको कष्ट देने के लिए आया। मैं किसी अन्य स्थान से गुरु-दक्षिणा प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। मुझे तो इस समय इसके अतिरिक्त कोई कार्य नहीं है। भगवान् आपका मंगल करें।'

यह कह कर जब कौत्स जाने लगा तो राजा ने उसे रोक कर पूछा—'हे विद्वन्, आपने यह नहीं बताया कि गुरु की सेवा में आपको कौन-सी वस्तु कितनी राशि में भेंट करनी हैं।'

संयमी राजा रघु के प्रश्न को जब स्नातक ने सुना तो वह रुक गया और बोला—'विद्याध्ययन समाप्त करके मैंने महर्षि से निवेदन किया था कि मुझे गुरुदक्षिणा भेंट करने की आज्ञा दी जाय। गुरु ने कहा कि तेरी भक्तिपूर्ण सेवा ही पर्याप्त है। फिर भी मैं गुरुदक्षिणा लेने का आग्रह करता ही गया। इससे असन्तुष्ट होकर महर्षि ने कहा कि यदि तेरा ऐसा ही आग्रह है तो ग्रहण की हुई चौदह विद्याओं के बदले में चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ गुरुदक्षिणा के रूप में प्रस्तुत कर। हे राजन् ! मेरी माँग बहुत बड़ी है, इस कारण मैं आपसे आग्रह करने का साहस नहीं कर सकता !'

वेदशास्त्र पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मण की बात सुनकर विद्वान् सम्राट् ने निवेदन किया—एक स्नातक गुरुदक्षिणा की खोज में रघु के पास आया और निराश होकर किसी अन्य दानी के पास चला गया, यह अपयश मेरे लिए एक असाधारण बात होगी जो मुझसे सहन नहीं हो सकेगी। अतः आप दो-तीन दिन तक मेरे यज्ञगृह में चतुर्थ अग्नि की भाँति आदरपूर्वक निवास करने की कृपा करें। इस बीच में मैं आपके लिए अभीष्ट धनराशि संग्रह करने का यत्न करता हूँ।

रघु के वचन को अटल प्रतिज्ञा के समान मान कर कौत्स रुक गया। इधर यह सोच कर कि पृथ्वी का सार खींच कर तो मैं दान कर चुका हूँ,

राजा ने कैलाश के स्वामी कुबेर से अभीष्ट धनराशि लेने का संकल्प किया। उस रात रघु ने शस्त्रों से सुसज्जित रथ में ही शयन किया मानो वह प्रातःकाल अपने किसी साधारण सामन्त को जीतने के लिए प्रयाण करनेवाला हो। जब वह प्रातःकाल उठा तो कोषगृह के रक्षकों ने सूचना दी कि आज रात कोषगृह में आकाश से सोने की वर्षा हुई है। वह इतनी बड़ी धनराशि थी कि मानो बिजली की चोट खाकर सुमेरु पर्वत की चट्टान टूट पड़ी हो। रघु ने वह सम्पूर्ण धन कौत्स की सेवा में अर्पित कर दिया।

राजा ने सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों पर लाद कर वह धन राशि कौत्स के सुपुर्द करते हुए झुक कर प्रणाम किया। सन्तुष्ट होकर विद्वान् ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया। संसार के समस्त ऐश्वर्य आपको प्राप्त हैं, अन्य जो भी शुभ-कामना की जायगी वह पुनरुक्तिमात्र होगी। इस कारण मेरा इतना ही आशीर्वाद है कि जैसे आपके योग्य पिता ने आपको प्राप्त किया था वैसे ही आप भी अपने अनुरूप पुत्ररत्न प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार आशीर्वाद देकर गुरु-दक्षिणा के साथ ब्राह्मण-कुमार गुरु के पास चला गया। जैसे संसार सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है, वैसे ही राजा ने भी भगवान् की दया से पुत्ररत्न प्राप्त किया।

महारानी ने ब्राह्म मुहूर्त में स्कन्द के समान तेजस्वी कुमार प्राप्त किया था। अतः सम्राट् ने उस शिशु का ब्रह्मा के नाम पर 'अज' नाम रखा।

अज तेजस्वी, बड़ा बली और स्वाभाविक उदार था। जब गुरुओं से विधिपूर्वक प्राप्त की हुई शिक्षा और युवावस्था के प्रभाव से अज पूर्ण रूप से सुन्दर युवा और गम्भीर हो उठा; उस समय यद्यपि राज्यश्री उसके गले में हार पहिनाने को उत्सुक थी, तथापि वह लज्जाशील कन्या

की तरह पिता की अनुमति की प्रतीक्षा कर रही थी। उस समय विदर्भ के राजा भोज के दूत ने रघु के पास आकर विनती की कि राजकुमार अज को पुत्री इन्दुमती के स्वयम्बर में भाग लेने के लिए भेजिए। सम्बन्ध उत्तम है और कुमार की अवस्था विवाह के योग्य है, इस भावना से राजा ने अज को सेनाओं के साथ धन-धान्य से पूर्ण विदर्भ देश की राजधानी की ओर भेज दिया। उसका प्रथम डेरा नर्मदा नदी के किनारे पर पड़ा जहाँ रास्ते की धूल से सनी हुई सेनाओं को नदीजल से आई शीतल वायु से शान्ति प्राप्त हुई।

जब नर्मदा के तट पर अज का डेरा पड़ा हुआ था, तब एक जंगली हाथी, जिसके गंडस्थल जल से निर्मल थे, नदी के जल से बाहर निकलता दिखाई दिया। उसके भय से सेना के घोड़े रस्सी तोड़कर भागने लगे जिससे रथ उलट कर टूटने लगे और सिपाही लोग महिलाओं की रक्षा में व्यस्त हो गये। इस लोक-प्रथा का अनुसरण करते हुए कि जंगली हाथी राजा के लिए वध्य नहीं है, अज ने केवल उसे रोकने के लिए धनुष की प्रत्यंचा को हल्का-सा खैंचकर उसके गण्डस्थ पर बाण मारा। आश्चर्य से चकित सेनाओं ने देखा कि तीर से विद्ध होकर उस हाथी का रूप परिवर्तित हो गया और वह उज्ज्वल तेज के मंडल से घिरे हुए आकाश-वासी गन्धर्व के रूप में दिखलाई दिया। उसने पहले राजकुमार के ऊपर कल्पद्रुम के फूलों की वर्षा की और फिर विनम्र भाव से कहा:—

'हे राजकुमार, मैं प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद हूँ। मेरे दुरभिमान से अप्रसन्न होकर मतंग मुनि ने मुझे शाप दिया और उसके फलस्वरूप मुझे हाथी के रूप में आना पड़ा। जब मुझे शाप मिला तब मैंने अनुनय-विनय की तो वे शान्त हो गये। पानी चाहे अग्नि एवं धूप के संयोग से उष्ण हो जाये, किन्तु वह स्वभाव से तो शीतल ही है। शान्त तपस्वी ने शाप को कम करते हुए कहा कि

इक्ष्वाकुवंश का राजकुमार अज जब बाण से तेरे मस्तक का छेदन करेगा, तब तुझे अपना शरीर वापस मिल जायगा। हे मित्र, मेरे पास सम्मोहन नाम का गन्धर्व अस्त्र है, जिसकी विशेषता यह है कि शत्रु की हिंसा नहीं करनी पड़ती और विजय हाथ में आ जाती है। यह अस्त्र मैं तुम्हें देता हूँ। तुमने बाण का प्रहार करते हुए मुझ पर जो दया का भाव प्रदर्शित किया, उसने मेरे हृदय में आत्मीयता पैदा कर दी है, कृपया इस भेंट को स्वीकार कीजिए।'

नर्मदा के जल का आचमन करके राजकुमार ने सम्मोहनास्त्र ग्रहण किया। जब अज ने अस्त्र ग्रहण किया तब प्रियंवद चैत्ररथ नाम के गन्धर्वों के निवास-स्थान की ओर चला गया और रघु ने उत्तम शासन के कारण सुखी और समृद्ध विदर्भ की ओर प्रस्थान किया। जब अज विदर्भ पहुँचा, तो विदर्भराज भोज ने ऐसी नम्रता का व्यवहार किया, जिससे सब अभ्यागतों ने अज को गृहस्वामी और भोज को अतिथि समझा।

राजकुमार ने स्वयंवर के मण्डप में पहुँच कर सुन्दर वेश वाले क्षत्रियों को विमान पर आरूढ देवताओं के समान शोभायमान देखा।

सूर्य-वंशी और चन्द्र-वंशी राजाओं के एकत्र हो जाने पर वंश-परम्परा के अनुकूल बन्दिजनों ने उनका अभिनन्दन किया। मंगलाचरण समाप्त होने पर, पालकी में परिजनों द्वारा घिरी हुई, पति के वरण की कामना रखने वाली राजकुमारी इन्दुमती ने मंडप के मार्ग में प्रवेश किया। सैकड़ों आँखों की एक लक्ष्य, विधाता की उस अनुपम रचना के सम्मुख आने पर सब नरेश अन्तर्भाव से उसके निकट जा पहुँचे, सिंहासनों पर तो केवल उनके भौतिक शरीर ही रह गये।

राजवंशों के इतिहास से परिचित और पुरुष के समान प्रगल्भ प्रतिहारी सुनन्दा इन्दुमती को मगध देश के राजा के निकट ले जाकर बोली—यह मगध देश का राजा परन्तप है। जैसे नाम वैसे गुणों वाला

है। शासक तो बहुत से हैं परन्तु भूमि को राजवन्ती कहलाने का सौभाग्य इन्हीं से प्राप्त है।

इन्दुमती ने सुनन्दा के वचन सुनकर मुँह से तो कोई उत्तर नहीं दिया, केवल परंतप की ओर देख कर, हल्का सा प्रणाम कर दिया, जिसका अभिप्राय था कि 'नहीं'। सुनन्दा राजकुमारी को परंतप के निकट से हटा कर दूसरे राजा के समीप ले गयी और बोली—यह अंग देश का राजा है। यह ऐरावत के स्वामी देवेन्द्र सदृश ऐश्वर्य का उपभोग कर रहा है। श्री और सरस्वती स्वभाव से एक दूसरे के संग नहीं रहती, इसने अपने गुणों से दोनों को आकृष्ट कर लिया है।

सुनन्दा से यह सुन कर इन्दुमती ने अंगराज पर से दृष्टि हटा कर कहा—आगे चल।

इन्दुमती जब अज के निकट पहुँची तब अज का दिल यह सोच कर धड़कने लगा कि इन्दुमती मेरा वरण करेगी या नहीं, किन्तु उस समय उसकी दक्षिण भुजा के केयूरबन्ध के स्थान में जो फड़कन उत्पन्न हुई उसने उसके सन्देह को दूर कर दिया। जब सुनन्दा ने देखा कि राजकुमारी का मन अज की ओर आकृष्ट हो गया है, तब वह राजवंशों के वृत्तान्त-वर्णन में प्रवीण प्रतिहारी विस्तारपूर्वक यों कहने लगी—'इक्ष्वाकु वंश में काकुत्स्थ नाम का एक चक्रवर्ती वीर उत्पन्न हुआ। जिसके नाम से उत्तर कोशल देश के शासक काकुत्स्थ कहलाते हैं। उस वंश में प्रतापी राजा दिलीप ने जन्म लिया। राजा दिलीप का पुत्र रघु अब शासन कर रहा है। सम्राट् रघु ने दिग्विजय करके विश्वजित् नामक यज्ञ को पूर्ण किया और यज्ञ की समाप्ति कर चारों दिशाओं से एकत्र हुई सम्पत्ति का दान कर दिया। उसका यश आज पृथ्वी की सीमाओं को उज्ज्वल कर रहा है। यह कुमार राजा रघु का तेजस्वी उत्तराधिकारी है; जो पिता के लिये शासनभार के उठाने में समान रूप से सहायक ही

रहा है। कुल, कान्ति, विद्या, शील आदि गुणों में यह तुम्हारे समान ही है। हे राजकुमारी, तुम इसके गले में वरमाला पहना दो। हीरा और स्वर्ण का संयोग हो जाय।'

सुनन्दा का वचन समाप्त होने पर नैसर्गिक लज्जा को दबा कर इन्दुमती ने प्रसन्न और निर्मल दृष्टि से कुमार अज को इस प्रकार स्वीकार कर लिया, जैसे वरमाला पहिना दी हो। कुलीनता के कारण मुँह से कुछ न कह सकी। प्रतिहारी ने सखीभाव से परिहास से कहा—'आर्ये, चलो आगे चलें! इस पर रोषभरी दृष्टि से इन्दुमती ने सुनन्दा की ओर देखा और निर्देश किया कि राजकुमार के कंठ में वरमाला पहना दे।' प्रतिहारी सुनन्दा ने शरीरधारी प्रेम के सदृश सिन्दूर से रक्त वर्ण हुई माला अज के गले में डाल दी।

बहन का परिणय-संस्कार सम्पादित करके विदर्भराज ने अधिकारियों को आदेश दिया कि स्वयंवर में आये हुए अन्य नरेशों का समुचित आदर-सत्कार करें। भोजराज ने उन्हें जो भेंट दी, उसे उपहार के रूप में देकर वे लोग विदा हो गये।

राजा लोग राजधानी से तो विदा हो गये, परन्तु उसके मन कलुषित थे। पूर्व निश्चित इशारे के अनुसार कुछ दूर जाकर इन्दुमती को छीनने के लिए हिंस्र जन्तुओं के समान क्रोध में भरे हुए नरेशों का समूह मार्ग रोकने के लिए एकत्र हो गया। भोज तीन पड़ाव तक राजकुमार के साथ रहा। उसके पश्चात् अपनी राजधानी को लौट आया। राजाओं को दिग्विजय के समय सम्राट् रघु ने पराजित किया था और उनसे कर वसूल किया था, इस कारण वे पहले से ही असन्तुष्ट थे। अब वे इस बात से तिलमिला उठे कि स्त्रीरत्न भी उसी के पुत्र के हाथ लगा। परिणाम-स्वरूप उस अभिमानी राजाओं के दल ने इन्दुमती को लेकर जाते हुए अज का मार्ग रोक लिया।

संग्राम में बराबर की टक्कर हुई, पैदल पैदल से भिड़ गया; अश्वारोह अश्वारोह से और गजारूढ़ गजारूढ़ से जूझ गया। युद्ध की भयंकरता बढ़ती गयी ऐसा घोर संग्राम अज ने पहले-पहल देखा था। ऐसी संकटमय दशा में राजकुमार को प्रियंवद से प्राप्त सम्मोहनास्त्र का स्मरण आया। उसने शत्रुओं की सेना पर उस अस्त्र का प्रयोग कर दिया। सम्मोहनास्त्र का प्रहार होने पर शत्रुओं की सेना की ऐसी दशा हो गई कि जो हाथ धनुष की प्रत्यञ्चा खैंच रहे थे, वे वहाँ से छूट गये, शिरस्त्राण कन्धों पर गिर गये और शरीर ध्वजा के खम्भे पर झुक गये। शत्रुओं की सेना अस्त-व्यस्त होकर सो गयी। उस समय विजयी राजकुमार ने शंख उठा कर होठों में लगाया और जोरदार विजय-ध्वनि की।

इन्दुमती संग्राम की भयंकरता से घबड़ा-सी रही थी। युद्ध में विजयी होकर जब राजकुमार वधू के पास आया, तब उसने इन्दुमती से कहा—'इन राजाओं को देखो, अब बच्चा भी इनके शस्त्रास्त्र छीन सकता है। ये लोग इसी वीरता से मुझ से तुम्हें छीनना चाहते थे।'

इन्दुमती अज की विजय से बहुत प्रसन्न हुई। रघु को अज की विजय का वृतान्त पहले ही विदित हो गया था। विजयी पुत्र के सर्वगुणालंकृत वधू सहित राजधानी में पहुँचने पर सम्राट् ने उसका हार्दिक अभिनन्दन किया और समस्त परिवार और राज्य का भार उसके बलिष्ठ कन्धों पर डालकर स्वयं शान्ति-मार्ग अपनाया।

रघु ने अज की कलाई पर विवाह-सूत्र बँधने के साथ ही उसके हाथ में पृथ्वी का राजदंड भी सौंप दिया। जब रघु ने देखा कि अज को प्रजाजनों ने प्रेम से अपना लिया है, तो वह इस लोक के ही नहीं अपितु स्वर्गलोक के सुखों की ओर से भी उदासीन हो गया। उसने मुनियों के योग्य वेश बना लिया। जब अज ने सुना तो तपोवन में जाकर अपने मुकुट-सुशोभित शिर को पिता के चरणों में झुका दिया

और यह विनती की कि मेरा परित्याग न कीजिए। श्रद्धा एवं भक्ति से की गयी पुत्र की उस प्रार्थना को रघु ने स्वीकार कर लिया, परन्तु राजकाज में भाग लेना स्वीकार न किया। नगर के बाहर, एकान्त स्थान में रह कर वह योग-साधना में लीन हो गया और कुछ समय पश्चात् समाधि द्वारा पार्थिव शरीर का त्याग कर परमपद को प्राप्त हो गया।

शरीर की अनित्यता का विचार करके वीर अज ने शीघ्र शोक का परित्याग कर दिया और अपना समस्त ध्यान प्रजा के पालन में लगा दिया। योग्य पति के प्राप्त होने से पृथ्वी रत्नों की और महारानी इन्दुमती पुत्र की जननी हो गयीं। अज का पुत्र-रत्न सहस्र किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी था। उसका यश दशों दिशाओं में व्याप्त होने वाला है, यह विचार कर पिता ने उसका नाम दशरथ रखा।

एक बार प्रजा की सुख-समृद्धि और उत्तम संतान की प्राप्ति से निश्चिन्त होकर वह नगर के निकट नन्दन के समान एक सुन्दर उपवन में आमोद-प्रमोद में मग्न था। उसी समय नारद मुनि दक्षिण समुद्र के तटवर्ती गोकर्ण नामक स्थान की ओर महादेव की आराधना के लिए जाते हुए आकाशमार्ग से निकले। अकस्मात् वेगवान् वायु ने वीणा के अग्र भाग पर टँगी हुई दिव्य-पुष्पों की माला का, संभवतः उसकी सुगन्ध के लोभ से, अपहरण कर लिया। दिव्य-पुष्पों की वह माला पार्थिव पुष्पों की ऋतुजन्य विभूति को परास्त करती हुई नीचे आई और महारानी इन्दुमती के वक्षःस्थल के मध्य भाग पर गिरी।

उस आघात को वह सुकोमलाङ्गी सह न सकी। वह अचेत होकर गिर गयी और जैसे दीपक का गिरता हुआ तेल उसकी लौ को भी साथ ले जाता है, वैसे ही पृथ्वी पर गिरती हुई इन्दुमती ने पति को भी भूतल पर संज्ञाशून्य करके गिरा दिया। अज तो सचेत हो गया, पर इन्दुमती

सचेत न हुई। उपाय भी तभी सफल होते हैं जब आयु शेष हो। इन्दुमती के वियोग में अज स्वाभाविक धीरता को खो बैठा और वह साधारण मनुष्य की तरह विलख-विलख कर रोने लगा।

प्रिया के वियोग में कोशलदेश के स्वामी का विलाप इतना करुणा-जनक था कि शाखाओं के द्रवित होने से रस बहने लगा, जिससे वृक्ष भी आर्द्र हो गये। परिजन लोगों ने किसी प्रकार इन्दुमती के शव को अज की गोद से लेकर उसकी चंदन, अगर आदि सुगन्धित वस्तुओं द्वारा अन्त्येष्टिक्रिया कर दी। राजा ने प्रिया के साथ ही चिता में इस कारण प्रवेश नहीं किया कि संसार कहीं यह न कहे कि अज कर्त्तव्यविमुख होकर स्त्री के पीछे चला गया।

जब यज्ञ के लिए दीक्षित वसिष्ठ मुनि को अज की विकलता के समाचार मिले, तब उन्होंने अपने शिष्य द्वारा उसे सांत्वना-सन्देश भेजा। वसिष्ठ के शिष्य ने अज से कहा—'यज्ञ आरम्भ हो चुका है। उसकी समाप्ति से पहले मुनि आश्रम से नहीं हट सकते। अतः उन्होंने अपना सन्देश देकर मुझे आपकी सेवा में भेजा है, उसे सुनो और हृदय में धारण करो। कुछ समय पूर्व, तृणविन्दु नाम के एक ऋषि घोर तपस्या कर रहे थे। उनकी परीक्षा करने के लिए देवेन्द्र ने हरिणी नाम की अप्सरा को उनके निकट भेजा। हरिणी ने आश्रम में जाकर जब तप-विरोधी हावभाव दिखाये, तब ऋषि के संयम का बाँध टूट गया और उन्होंने क्रोध में आकर शाप दिया कि 'तू मनुष्य लोक में जन्म ले।' उन्होंने कहा कि जब तुम्हें स्वर्गीय पुष्प के दर्शन होंगे तब तुम शाप से मुक्त हो जाओगी। वह अप्सरा क्रथकैशिक राजाओं के वंश में इन्दुमती नाम से उत्पन्न हुई और तुम्हारी पत्नी बनी। आकाश से गिरे हुए स्वर्गीय पुष्पों के हार ने उसे शाप से छुड़ा दिया। इससे तुम्हें व्यथित न होना चाहिए। जो जन्म लेते हैं उनपर आपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं। मरना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और जीना कृत्रिम। मनुष्य

यदि क्षण भर भी जी लेता है, तो यह लाभ की बात है। हे भूमिपाल, तुममें और साधारण व्यक्तियों में फिर भेद ही क्या है, यदि दोनों ही वायु के झोके से कम्पित होने लगे ?'

बालक की अवस्था अभी कम थी, इस कारण इन्दुमती के चित्रों और स्वप्न दर्शनों द्वारा किसी तरह दिल बहला कर अज ने आठ वर्ष काट डाले। तत्पश्चात् जैसे ठुकी हुई कील भवन के फर्श को तोड़ देती है, शोक ने उसके हृदय को बींध दिया और प्रिया के निकट शीघ्र जाने का साधन मान कर वह मृत्यु का भी स्वागत करने लगा। रोगी शरीर का परित्याग करने के उद्देश्य से उसने आमरण अनशन का आश्रय लिया और गंगा तथा सरयू के संगम पर शरीर त्यागकर स्वर्गलोक के नन्दन-वनों में प्रिया के साथ विहरण का अधिकार प्राप्त किया।

राजा दशरथ ने अपने कुलक्रमागत जितेन्द्रिय राजाओं के पद-चिह्नों पर चलते हुए उत्तर कोसल देश पर शासन किया। उन्होंने प्रजा का पिता के समान पालन किया, अतः प्रजा उनसे अत्यन्त सन्तुष्ट थी। उनको न मृगया का न द्यूत का व्यसन था। उन्होंने कभी देवेन्द्र के समक्ष भी दीन वचन नहीं कहे, उपहास में भी कभी झूठ नहीं बोला और शत्रुओं को भी कभी कठोर वचन नहीं कहे। अन्य नरेश उनसे अभय और अस्त्र का पाठ पढ़ते थे।

अपनी चतुरंगिणी सेना को लेकर उन्होंने एकाकी समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त की। वे अग्नि के समान तेजस्वी और चन्द्रमा के समान शीतल चक्रवर्ती राजा होते हुए भी लक्ष्मी को चंचला जानकर बहुत सतर्क होकर शासन किया। जैसे उच्च पर्वतों से निकल कर नदियाँ विशाल समुद्र में प्राप्त होती हैं उसी प्रकार कोसल, कैकेय और मगध के प्रतिष्ठित राजाओं की पुत्रियाँ उन्हें पत्नी के रूप में प्राप्त हुईं।

एक बार दानवों ने स्वर्गलोक पर आक्रमण किया। देवेन्द्र ने अपनी सहायता के लिए दशरथ को निमन्त्रण भेजा। दशरथ ने देवेन्द्र की



दशरथ ने दम तोड़ते हुए ऋषिकुमार से परिचय पूछा (पृ० ५९)

सहायता स्वीकार कर दानवों को परास्त किया। दिग्विजय और राजसूय यज्ञ करने के कारण उसका स्तर इतना उन्नत हो गया था कि देवेन्द्र के अतिरिक्त उनका सिर किसी के सामने नहीं झुकता था।

एक बार वसन्त ऋतु के आगमन पर महाराज दशरथ ने आखेट के लिए जाने का निश्चय किया। आखेट करने से राजा का अभिप्राय यह नहीं था कि व्यसन की पूर्ति करें वरन वह चलते हुए लक्ष्यों पर निशाना लगाने के अभ्यास एवं क्रोध के समय उनकी चेष्टाओं के अध्ययन तथा परिश्रम द्वारा शरीर को हल्का और फुर्तीला करने के लिए वे शिकार करना चाहते थे। राजा के जंगल में प्रवेश करने के पूर्व वहाँ शिकारी कुत्तों और मृगों को बाँधने के लिए रस्सियों को लेकर वहाँ शिकारी लोग पहुँच चुके थे। राजा के लिए मार्ग साफ कर दिया गया था तथा पानी के लिए प्याउओं की व्यवस्था की गयी थी। राजा कई दिनों तक शिकार में लगा रहा। उसने जंगली सुअरों, हरिणों एवं शेरों को अपने लक्ष्य का निशाना बनाया। एक दिन हरिण का पीछा करते हुए राजा अकेला तपस्वियों से सुशोभित तमसा नदी के किनारे जा पहुँचा। वहाँ उसने दूर से एक गंभीर ध्वनि सुनी। उसे उसने जंगली हाथी की ध्वनि समझा और उसके मारने के लिए एक शब्दवेधी बाण छोड़ दिया। जब मनुष्य की बुद्धि पर रजोगुण का पर्दा पड़ जाता है तब वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल जाता है। यद्यपि क्षत्रिय के लिए जंगली हाथी का वध निषिद्ध है तथापि वह आखेट के जोश में वही कर बैठा। उसी समय 'हा तात!' की ध्वनि आकाश में गूँजी। दशरथ ने वहाँ पहुँच कर देखा कि एक मुनिकुमार घायल पड़ा है। राजा के हृदय पर भी तीर की सी चोट लगी। राजा ने उस दम तोड़ते हुए ऋषि कुमार से परिचय पूछा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह तपस्विनी शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ तपस्वी पिता का पुत्र श्रवणकुमार है। यह सुनकर राजा उसे उठाकर उसके अन्धे माता-पिता के पास ले गया और वहाँ अपना पूरा परिचय देकर उनसे

निवेदन किया कि यह जघन्य पाप मुझसे अज्ञानवश हुआ है। पुत्र की दशा जानकर बूढ़े माता-पिता ने अत्यन्त विलाप किया और राजा को प्रेरित किया कि वह बालक के शरीर से शर को निकाल दे। शर के निकलते ही रुधिर की धारा बह निकली, जिससे कुमार के प्राण-पक्षी उड़ गये। अंध पिता ने क्रोधावेश में आँसुओं के जल को अंजलि में लेकर दशरथ को शाप दिया—'जिस प्रकार वृद्धावस्था में मैं पुत्र–वियोग में प्राण छोड़ रहा हूँ, वैसे तू भी पुत्र–वियोग में ही प्राण छोड़ेगा।'

दशरथ को पृथ्वी का शासन करते बहुत वर्ष बीत गये। परन्तु उसे पितृ–ऋण चुकाने का एकमात्र साधन पुत्र प्राप्त न हुआ। ऋष्यशृङ्ग आदि ऋषियों ने राजा को सन्तान प्राप्त हो इस उद्देश्य से पुत्रेष्टि-यज्ञ का आयोजन किया।

जब यह यज्ञ आरम्भ हुआ, तभी जैसे धूप से बचने के लिए पथिक वृक्ष के निकट जाते हैं, रावण के अत्याचारों से पीड़ित देवगण विष्णु भगवान् के पास पहुँचे। स्तुति के पश्चात् कुशल प्रश्न करके देवताओं ने संसार के उस संकट का वर्णन किया जो अकाल–प्रलय के समान उमड़ते हुए रावणरूपी समुद्र से हो रहा था। देवताओं की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने कहा—

'मुझे विदित है कि आप लोग रावण से उसी प्रकार कुचले गये हैं जिस प्रकार प्रमाद के कारण पाप से मन कुचल गया हो। अपने दुष्ट कर्मों से रावण ने अपना सिर, मानो, मेरे चक्र का लक्ष्य बना दिया है। रावण को ब्रह्मा का वर प्राप्त था अतः मैंने उपेक्षा की है। उसे यह वर मिला था 'तुम अभय हो।' उसने मनुष्य को तुच्छ जानकर उससे अवध्यता के वर की याचना नहीं की थी। उसने केवल देवताओं से अभय होने का वर माँगा था। अब मैं दशरथ के घर में जन्म लेकर रावण का नाश करूँगा। तुम लोग चिन्ता न करो।'

पुत्रेष्टि-यज्ञ का आयोजन महर्षि शृङ्गी ने किया था। पुत्रेष्टि-यज्ञ के अन्त में, पात्र में चरु लेकर एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ। उसने इस सूचना के साथ वह चरु महाराज दशरथ को दिया कि इसे महारानियों को खाने के लिए वितरण कर दो। महाराज ने चरु का आधा भाग पटरानी कौसल्या और प्रिया कैकेयी को देकर उन्हें संकेत किया कि सुमित्रा को भी बाँट दो। दोनों बड़ी रानियों ने अपने-अपने भागों में से आधा-आधा सुमित्रा को भी दे दिया।

राजपत्नियाँ यथासमय गर्भवती हुई। यथासमय पटरानी कौसल्या ने रात्रि के अन्धकार का नाश करने वाली ज्योति के समान तेजस्वी बालक उत्पन्न किया। बालक की सुन्दरता से प्रभावित होकर राजा ने उसका संसार के लिए कल्याणकारी 'राम' यह नाम रखा। कैकेयी से भरत नाम का सुशील बालक उत्पन्न हुआ। सुमित्रा के गर्भ से युगल सन्तानें उत्पन्न हुई। जिनके नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखे गये।

राम अभी बालक ही थे कि ऋषि विश्वामित्र ने महाराज दशरथ के पास जाकर यज्ञ की रक्षा के लिए राम को माँगा। निषेध करने पर विश्वामित्र ने कहा कि तेजस्वियों का तेज देखा जाता है, अवस्था के दिन नहीं गिने जाते। महाराज ने इच्छा न रहते हुए भी ऋषि के आग्रह करने पर राम और लक्ष्मण को उनके साथ भेज दिया। रघुकुल की यह परम्परा थी कि याचक यदि प्राणों की याचना भी करे, तो भी उसकी इच्छा पूर्ति की जाती थी। जब दोनों धनुषधारी बालक गमन करते समय पिता के चरणों में नत हुए तब उनके सिरों पर पिता की आँखों से निकलते हुए वियोगाश्रु टपक पड़े। राम और लक्ष्मण को ही ऋषि अपने साथ ले जाना चाहते थे, सेना को नहीं।

रास्ते में एक वन था जिसमें अगस्त ऋषि के शाप से भीषण-काया ताड़का निवास करती थी, जो तपस्वियों को पीड़ित करती थी। दोनों

भाई वहाँ पहुँचे, तो उन्होंने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा ली, और सतर्क हो गये। उनकी प्रत्यंचा का शब्द सुनकर राक्षसी प्रकट हुई। उसके वेग से रास्ते के वृक्ष काँप रहे थे। उस राक्षसी के शरीर पर मुर्दों के कफन लटक रहे थे और वह गगन-व्यापी स्वर चिंघाड़ रही थी। ताड़का को देख कर राम सहसा घबरा गये। परन्तु उन्होंने जब राक्षसी की प्रहार के लिए उठी हुई भुजाओं को देखा, तो प्रत्यंचा पर तीर चढ़ाया और पूरे वेग से उसकी छाती पर निशाना लगाया। जब ताड़का संज्ञा-शून्य होकर गिरी, उससे केवल उस जंगल की भूमि ही नहीं काँपी अपितु तीनों लोकों को पराजित करके स्थिर की हुई रावण की राज्य-लक्ष्मी भी आमूल प्रकम्पित हुई।

विश्वामित्र जी ताड़का-वध से संतुष्ट हुए। उन्होंने राम को राक्षसों का संहार करने वाले शस्त्रों का उपदेश दिया। ऋषि ने दीक्षा देकर आश्रम में यज्ञ आरम्भ कर दिया। राम और लक्ष्मण ऋषि की राक्षसों से रक्षा करने लगे। यज्ञ प्रारम्भ होने पर घबराये हुए ऋषियों ने क्या देखा कि स्थूल रक्तबिन्दु आकाश से वेदी पर गिर रहे हैं। तूणीर से बाण निकालते हुए राम ने ऊपर देखा तो उन्हें राक्षसों की सेना दिखायी दी। आक्रमणकारियों का एक सेनापति ताड़का का पुत्र मारीच था। राम ने वायव्यास्त्र के प्रयोग से उसके पर्वताकार भीषण शरीर को भी बहुत दूर फेंक दिया। दूसरे सेनापति सुबाहु को, क्षुरप्र नाम के बाण से काटकर जंगली पशुओं के भक्षणार्थ फेंक दिया। राक्षस भाग गये। इस प्रकार मौन व्रत धारण किये हुये मुनि विश्वामित्र ने यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त किया।

मिथिला के महाराज जनक ने अपनी पुत्री सीता के स्वयंवर-यज्ञ में ऋषि विश्वामित्र को भी निमंत्रित किया था। स्वयंवर में यह नियम रखा गया था कि जो राजपुत्र शिव-धनुष को तोड़ेगा, सीता उसके गले में वरमाला डालेंगी। ऋषि ने धनुष देखने के लिए उत्सुक राम और लक्ष्मण को भी साथ ले लिया।

जब राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र के पधारने का समाचार राजा जनक को मिला तो वह अगवानी के लिए बहुत सम्मान के साथ उनकी सेवा में पहुँचे। ऋषि ने राजा को अनुकूल समय देखकर बतलाया कि राम शिवधनुष के दर्शन करना चाहते हैं। विचार कर राजा जनक ने मुनि से कहा—'हे भगवन् जिस कार्य को बड़े-बड़े महारथी योद्धा भी न कर सके उस कार्य को करने के लिए मैं इस कोमल बालक को कैसे आज्ञा दूँ!

विश्वामित्र ने उत्तर दिया 'इस बालक की शक्ति का मैं कैसे वर्णन करूँ। परन्तु जब यह पर्वत पर बिजली की भाँति शिवधनुष पर पराक्रम दिखायेगा, तब तुम स्वयं इसका परिचय पा जाओगे।' ऋषि के कहने से थोड़ी अवस्था के कुमार पर भी राजा जनक की आस्था हो गयी। सुप्त सर्पराज वासुकी के समान बड़े और भीषण धनुष को राम ने अनायास उठा लिया, और आश्चर्यचकित दर्शकों के समक्ष उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी। प्रत्यंचा को चढ़ा कर राम ने खींचा तो धनुष बड़ी भीषण ध्वनि के साथ भग्न हो गया। वह ध्वनि इतनी ऊँची थी कि तपस्या करते हुए क्रोधी मुनि परशुराम के कानों तक पहुँच गयी।

तदनन्तर प्रसन्न होकर राजा जनक ने साक्षात् लक्ष्मी के सदृश सर्व-गुण सम्पन्न पुत्री सीता का परिणय राम से करने की अभिलाषा प्रकट की, और अग्नि-सदृश पवित्र ऋषि की साक्षी करके उसे राघव को समर्पित कर दिया। साथ ही जनक ने अपने पुरोहित को यह निवेदन करने के लिए अयोध्या-नरेश दशरथ के समीप भेजा कि आप मेरी कन्या को अपने पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार करके निमि वंश को कृतार्थ कीजिए। महाराज दशरथ भी राम के लिए गुणवती कन्या की ढूँढ में थे ही, अनुकूल सन्देश लेकर पुरोहित के पहुँचने से वे अत्यन्त संतुष्ट हुए।

ब्राह्मण द्वारा मिथिलाधीश का संदेश पाकर महाराज दशरथ ने मिथिला की ओर प्रयाण कर दिया। वरुण और देवेन्द्र के समान प्रतापी दशरथ और जनक ने अपने पद और गौरव के अनुकूल बड़े समारोह के

साथ विवाहोत्सव सम्पन्न किया। राम का सीता से, सीता की छोटी बहिन उर्मिला का लक्ष्मण से, और मांडवी और श्रुतकीर्ति का क्रमशः भरत और शत्रुघ्न से विवाह हो गया।

जिस प्रकार प्रातः कालीन दीपक की लौ मन्द पड़ कर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार दशरथ भी अपनी अन्तिम अवस्था में पहुँच गये। दशरथ ने राम का अभिषेक करना चाहा। किन्तु स्नानार्थ आनीत पवित्र जल को कैकयी के आँसुओं ने कलुषित कर दिया। महाराज दशरथ ने उसे मनाने का प्रयत्न किया तो वर के रूप में उसने विष उगल दिया और कहा कि राम को १४ वर्षों का वनवास दो और भरत को राज्य-लक्ष्मी। राज्य-लक्ष्मी तो प्राप्त हुई किन्तु साथ ही पुत्र-वियोग से दशरथ की मृत्यु के पश्चात् कैकेयी को वैधव्य भी मिला। पिता के वचन की रक्षा के लिए राम सीता एवं लक्ष्मण के साथ वन चले गये। सुमन्त ने जब रथ हाँका तब व्यथित अयोध्यावासी भी साथ हो लिये। रथ के घोड़े व्यथित होने से आगे पैर न बढ़ाते थे। राम तो हर्ष और विषाद से परे थे, वे सहर्ष वन (दण्डकारण्य) चले गये। राम के वियोग से बहुत दुःखी होकर श्रवण के माता-पिता के शाप का स्मरण करते हुए दशरथ जी परलोक सिधारे।

राम के वन चले जाने पर प्रजा ने ननिहाल से भरत को बुलाने के लिए दूत भेजा। भरत अयोध्या में पहुँचे और जब उन्होंने राम के वन-गमन का समाचार सुना तो वे माता ही नहीं अपितु राज्य-लक्ष्मी से भी विमुख हो गये। राम ने वन-यात्रा में जिन वृक्षों के नीचे निवास किया था उनको अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखता हुआ भरत सेना सहित चित्रकूट में राम के पास पहुँचा। भरत के बहुत आग्रह करने पर भी राम पिता के वचन की रक्षा के लिए वापस जाने को किसी भाँति भी तैयार न हुए। तब भरत ने राज्य-सिंहासन पर रखने के लिए राम की खड़ाऊ माँग ली। राम ने उसकी इच्छा की पूर्ति की। भरत रामचन्द्र

जी की पवित्र खड़ाऊँ लेकर राजधानी में वापस आये और नन्दीग्राम में रह कर राज्य को राम की धरोहर समझ कर रक्षा करने लगा। ऐसा प्रतीत होता था कि वह अपनी तपस्या द्वारा माता के पाप का प्रायश्चित् कर रहा है।

रामचन्द्रजी चित्रकूट में थे। उन्हें आशंका हुई कि कहीं अयोध्या के समीप होने से भरत उनसे घर लौटने का आग्रह न करे। अतएव उन्होंने चित्रकूट-प्रदेश को छोड़ कर आगे जाने का निश्चय किया। वे दक्षिण दिशा की ओर गये। मार्ग में अगस्त्याश्रम पड़ा, जहाँ देवी अनसूया ने सीता को उपदेश और आदेश दिया। मुनि अगस्त्य के परामर्श से वे वन के दक्षिण की ओर आगे बढ़ गये, और पंचवटी में पहुँच कर वहीं आश्रम बनाया; और तीनों श्रीराम, सीता और लक्ष्मण वहीं रहने लगे। जैसे भयानक नागिन गर्मी से व्याकुल होकर चन्दन के वृक्ष की ओर भागती है, वैसे ही कामदेव के वशीभूत होकर रावण की छोटी बहिन शूर्पणखा राम के पास जा पहुँची और सीता के सामने ही राम से कहने लगी कि मुझसे विवाह कर ले, देख तो मैं कितनी सुन्दरी हूँ। संयमी राम ने राक्षसी को समझाते हुए कहा कि मैं तो विवाहित हूँ, अन्य विवाह कैसे कर सकता हूँ? तू मेरे छोटे भाई के पास जाकर उससे प्रार्थना कर।

लक्ष्मण द्वारा तिरस्कृत होकर शूर्पणखा फिर राम की ओर भागी। सीता को इस पर हँसी आ गयी। उसे हँसती देखकर राक्षसी का क्रोध भड़क उठा और यह कहती हुई सीता पर झपटी कि तू हरिणी होकर सिंही का मजाक उड़ाती है तो तुझे इसका फल चखाऊँगी। जब लक्ष्मण ने उसका रोषपूर्ण शृगाली का सा भयानक स्वर सुना, तो वे तलवार ले राम की झोपड़ी में गये और उसके नाक आदि काटकर उस कुरूपा को

और भी विकृत रूपा कर दिया। तब वह राम और लक्ष्मण को धमका कर जनस्थान की ओर भागी।

सूर्पणखा ने जनस्थान में पहुँच कर खर-दूषण आदि राक्षसों को राम द्वारा परास्त राक्षसों की यह नयी कहानी सुनायी। राक्षसों ने राम पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। जनस्थान के सब राक्षस राम के साथ युद्ध में मारे गये। उनके नाश के समाचार को रावण तक पहुँचाने के लिए केवल शूर्पणखा ही शेष बची थी। भगिनी की वह दुर्दशा और बलवान् राक्षसों के नाश का वृत्तान्त सुनकर रावण को ऐसा लगा मानो राम ने उसके दसों मस्तकों को पाँव से कुचल दिया हो। मायामृगरूपी मारीच की सहायता से मायावी रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। मार्ग में जटायु ने बाधा डाली तो रावण ने उसे घायल कर डाला। जिस समय राम और लक्ष्मण सीता की खोज कर रहे थे उस समय उन्होंने देखा कि उनके पिता दशरथ के मित्र जटायु ने अपने प्राण देकर मित्रता का ऋण चुकाया है। उन्होंने उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की मानो पुत्र ने पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया की हो। जंगल में कबन्ध नाम का राक्षस बहुत विघ्न करने लगा तो राम ने उसका वध कर डाला। सद्गति को प्राप्त होते हुए राक्षस ने राम को सुग्रीव का परिचय कराया। समान दुःख भोगी सुग्रीव के साथ राम के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न होना स्वाभाविक था। जो गाढ़ी मित्रता के रूप में परिणत हो गयी। राम ने बालि को मार कर सुग्रीव को उसका छिना हुआ राज्य और स्त्री तारा, दोनों ही वापिस दिला दिये। सुग्रीव द्वारा प्रेषित दूत सीता की तलाश में चारों ओर घूमने लगे। यह समाचार पाकर कि रावण सीता को लेकर लंका में चला गया है, हनुमान् समुद्र को ऐसे पार कर गये जैसे योगी संसार को तैर जाते हैं। लंका में पहुँच कर हनुमान् ने जानकी के समक्ष प्रकट होकर, परिचय के लिए उँगली से उतार कर दी

हुई राम की अँगूठी दी। सफल दौत्यकर्म से जानकी को प्रसन्न करके हनुमान् ने लंका का नाश करने का संकल्प किया। हनुमान् ने वहाँ राजकुमार अक्षय का वध करके, ब्रह्मास्त्र की सहायता से पकड़े जाने पर, रावण की स्वर्णमयी लंका को जलाकर भस्मसात् कर दिया।

लंका से लौट कर हनुमान् ने सीता की दी हुई निशानी राम को दी। प्रिया का समाचार प्राप्त कर राम ने सुग्रीव की विशाल वानर-सेना को साथ लेकर, समुद्र तट की ओर प्रस्थान किया। वहाँ समुद्र-तट पर रावण का भाई विभीषण, सुमति से प्रेरित होकर राम से मिला। राम ने वानरों की सहायता से समुद्र पर पुल तैयार कर दिया।

राम की सेना के लंका में पहुँचने पर राक्षसों और बानरों की सेना का भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ। यह युद्ध अद्‌भुत था। परिघ का जवाब उखाड़ कर फेंके हुए वृक्षों से दिया जा रहा था, मुद्‌गर शिला से पिस रहा था, नाखूनों के आघात शस्त्रों के आघात को मात कर रहे थे, और हाथी का प्रहार पहाड़ से तोड़ा जा रहा था। रावण ने युद्ध में पराजय होते देख कर सीता को अपने वश में करने का अथक प्रयत्न किया, परन्तु त्रिजटा नाम की राक्षसी ने सीता की दशा पर तरस खाकर उन्हें सत्य बात बतला दी। सीता संतुष्ट होकर राम के विजय की प्रतीक्षा करने लगीं। रावण का पुत्र मेघनाद शस्त्रास्त्रों में अत्यन्त दक्ष था। उसने सर्पास्त्र का प्रयोग करके राम और लक्ष्मण को बाँधने का प्रयत्न किया, परन्तु गारुड़ास्त्र के प्रयोग ने इनके बंधन खोल दिये। मेघनाद ने लक्ष्मण पर शक्ति का प्रहार किया, जिसने लक्ष्मण को तो मूर्च्छित कर ही दिया पर साथ ही उसके दुःख में राम भी मूर्च्छित हो गये।

हनुमान् द्वारा आनीत संजीवनी बूटी से लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हो गयी; और वे फिर राक्षसों का संहार करने लगे। जब लक्ष्मण ने मेघनाद

को मार कर उसके वीर-गर्जन और धनुष दोनों का ही अन्त कर दिया, तब रावण का भाई कुम्भकर्ण रणक्षेत्र में उतरा पर राम के बाणों ने उसे शीघ्र ही अटूट नींद में सुला दिया।

राक्षसों की अन्य सेनाएँ भी युद्ध-क्षेत्र में आकर वानरों की सेना से जूझ गयीं। अपनी सेना को पराजित देख कर रावण स्वयं युद्ध के लिए राजभवन से सन्नद्ध होकर निकल पड़ा। युद्ध आरम्भ हुआ। घात-प्रतिघात होने लगे और युद्ध का आवेग बढ़ गया। भीषण क्रोधावेश में रावण ने राम पर फौलाद की बनी हुई शक्ति का प्रहार कर दिया पर राम ने बीच में ही अपने अर्धचन्द्राकर बाणों से उसे और राक्षसों की आशा को एक ही साथ इतनी सरलता से काट डाला जैसे कोई केले के तने को काट डालता है। तत्पश्चात् श्रेष्ठ धनुर्धारी राम ने ब्रह्मास्त्र को धनुष पर चढ़ाया और रावण की ओर छोड़ दिया। ब्रह्मास्त्र ने अनायास ही रावण के रक्त से सने हुए सिर काटकर भूमि पर गिरा दिये।

संसार को पीड़ित करने वाले रावण के वध से प्रसन्न होकर देवता राम पर पुष्पों की वर्षा करने लगे। राम ने अग्निपरीक्षा द्वारा सीता की पवित्रता घोषित करके, सीता, सुग्रीव तथा लक्ष्मण के साथ अपने भुज-बल से विजित पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर, अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। प्रस्थान करने से पूर्व अपने भुजबल से जीती हुई लंका-राज्य अपने प्रिय मित्र विभीषण को सौंप दिया।

अयोध्या के उद्यान में पहुँच कर राम और लक्ष्मण ने एक मात्र आश्रय वृक्ष के कटने से आधारहीन लताओं के समान वैधव्य शोक से क्लान्त हुई माताओं के दर्शन किये। उसके पश्चात् माताओं के आनन्दाश्रुओं से राम का जो अभिषेक आरम्भ हुआ था, वृद्ध मन्त्रियों ने उसे तीर्थों से लाये हुए जल के स्वर्णघटों द्वारा पूरा कर दिया। जब राज्याभिषेक के पश्चात् राजा राम ने अपने अमात्य राक्षस और वानर

मित्रों तथा सेनाओं के साथ कुलक्रमागत राजधानी अयोध्या में प्रवेश किया, तब हर्षसूचक तूर्य आदि वाद्यों से आकाश गूँजने लगा।

राज्याभिषेक की विधि समाप्त होने पर महाराज राम ने सब अभ्यागतों का यथोचित आदर-सत्कार किया। सुग्रीव विभीषण आदि मित्रों को भाँति-भाँति के बहुमूल्य उपहार से संतुष्ट किया और ऋषि-मुनियों का कथा श्रवण और पूजन द्वारा अभिनन्दन करके उन्हें विदा किया।

थोड़े दिनों के पश्चात् सीता के नेत्रों की बढ़ी हुई मधुरता और मुख पर छाई हुई सफेदी को देख कर राम समझ गये कि वह गर्भिणी है। राम का हृदय अत्यन्त आनन्दित हुआ। जानकी का सिर गोद में लेकर, एकान्त में राम ने दोहद लक्षणों से युक्त जानकी से कहा कि तुम अपने मन की अभिलाषा बताओ, मैं उसे पूरी करूँगा। सात्विकभावों की प्रतिमा सीता ने उत्तर दिया कि मेरा मन गंगा तट पर बने हुए उन कुशाओं वाले तपोवनों में जाने को करता है। राम, प्रिया से इस इच्छा को पूरा करने का वचन दे करके अपने विश्वस्त पुरुषों के साथ प्रसन्नता से भरपूर अयोध्या को देखने के लिए आकाश को छूनेवाले महल पर चढ़ गये। वहाँ से उन्हें देख कर सन्तोष हुआ कि राजमार्ग की दूकानों पर क्रय-विक्रय की धूम है। प्रजा की सुख-समृद्धि से संतुष्ट होकर महाराज ने अपने गुप्तदूत से पूछा कि क्या पुरवासियों में मेरे विषय में कोई प्रतिकूल किंवदन्तियाँ भी फैली हुई हैं? बहुत आग्रह करने पर उसने उत्तर दिया कि 'हे देव, केवल इतनी बात को छोड़कर कि आपने राक्षस के घर में रही हुई देवी जानकी को अपने घर में स्थान दे दिया है, अन्य सब बातों में प्रजाजन आपके चरित्र की अत्यन्त प्रशंसा करते हैं।' विशुद्ध चरित्रवाली पत्नी के लोकापवाद का समाचार सुन कर उन्होंने अपने सब भ्राताओं को बुला कर उनसे कहा—'मैं जानता हूँ कि वैदेही सर्वथा निष्कलंक है, परन्तु मैं लोकापवाद को बहुत बलवान

मानता हूँ। यदि तुम चाहते हो कि मैं चिरकाल तक निष्कलंक जीवन व्यतीत करूँ तो करुणा के प्रभाव में आकर मेरे संकल्प का विरोध न करना।'

तदनन्तर रामचन्द्रजी ने अपने आज्ञाकारी भाई लक्ष्मण से कहा हे सौम्य ! तुम्हारी भाभी गर्भवती होने के पश्चात् तपोवन जाने की अभिलाषा प्रकट कर चुकी है, सो इसी निमित्त तुम उसे वाल्मीकि मुनि के आश्रम में ले जाकर छोड़ आओ।'

गुरुओं की आज्ञा पालन करने में आगा-पीछा करना अनुचित है इस भावना से उसने बड़े भाई के आदेश को स्वीकार कर लिया। गंगा के पार पहुँच कर, लक्ष्मण ने बहुत यत्नपूर्वक अपनी गद्गद वाणी को और उमड़ते हुए आँसुओं को दबाकर महाराज का कठोर आदेश सीता को सुनाया। उस आज्ञा को सुनकर और पराजय एवं अपमान की आँधी से आहत लता की तरह आभूषण रूपी पुष्पों को बिखेरती हुई सीता संज्ञा-शून्य-सी होकर जननी पृथ्वी की गोद में लेट गयी।

जब तक सीता संज्ञा-शून्य रही, दुःख की अनुभूति से दूर रही, परन्तु ज्यों ही उसे संज्ञा आई, हृदय में वेदना की आग सी जल उठी। लक्ष्मण ने भाभी को सान्त्वना देकर वाल्मीकि-मुनि के आश्रम का मार्ग बतला दिया और वहाँ से चला गया। उसके जाने पर सीता फूट-फूट कर रोने लगी। उसी सीता के रोने का शब्द सुन कर वाल्मीकि वहाँ आ पहुँचे। मुनि ने उसके चेहरे की ओर देख कर पहिचान लिया कि वह गर्भवती के चिह्नों से युक्त है और सुपुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। उन्होंने फिर कहा—'मैं समाधि द्वारा ज्ञात कर चुका हूँ कि तुझे मिथ्या अपवाद से घबराकर तेरे पति ने त्याग दिया है। बेटी, इसका दुःख मत करना। तू यहाँ अपने पिता के दूसरे घर में ही आ गयी है। इस तपोवन में तू निर्भय होकर निवास कर। सन्तान होने पर उसके



सीता-परित्याग (पृ० ७०)

जात-कर्मादि संस्कार यहीं पर हो जायेंगे। इस प्रकार आश्वासन देकर, ऋषि वाल्मीकि जनकनन्दिनी को अपने आश्रम में ले गये।

सीता के परित्याग करने के उपरान्त राम प्रजा-पालन एवं शासन करने में लग गये। लवण नामक राक्षस यमुना तट पर तपस्या करते हुए मुनियों को सताया करता था। मुनिगण अपनी रक्षा के लिए राम के पास पहुँचे। राम ने शत्रुघ्न को राक्षस का नाश करने की आज्ञा दी। शत्रुघ्न मार्ग में रमणीक स्थलों की शोभा देखता जाता था। आगे वाल्मीकि आश्रम आया, एक रात शत्रुघ्न ने वहीं आश्रम में बितायी। उसी रात्रि को आश्रम में सीताजी ने दो राजकुमारों को जन्म दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल शत्रुघ्न ने विजय-यात्रा के लिए प्रयाण किया। अन्त में वह रावण की भगिनी कुम्भीनसी के पुत्र लवण की मधुपघ्न नामक नगरी के पास आ पहुँचा। शत्रुघ्न ने उस पर आक्रमण कर दिया। उसने राक्षस के हृदय पर वैष्णवास्त्र का प्रयोग किया। लवण गिर गया और आकाश से देवताओं ने शत्रुघ्न पर पुष्पवर्षा की। इसी विजय के उपलक्ष्य में शत्रुघ्न ने कालिन्दी के तट पर मथुरा नामक नगर की स्थापना की।

वाल्मीकि जी ने दशरथ एवं जनक जी की मित्रता का पालन करते हुए राम के नवजात पुत्रों का विधिवत् संस्कार किया। उनकी उत्पत्ति के समय गर्भ-पीड़ा के निवारणार्थ कुश और लव (गौ की पूँछ के बाल) का आसरा लिया गया था। अतः शिशुओं के नाम कुश और लव रखे गये। ऋषि ने उन्हें वेद-शास्त्रों की शिक्षा के साथ शस्त्र-विद्या भी सिखायी और पिता के अनुरूप समस्त विद्याओं से सम्पन्न बना दिया।

महर्षि वाल्मीकि ने उन्हीं दिनों रामायण की रचना की तथा वह कुश और लव को याद करा दी। सस्वर रामायण से गाये जाते हुए श्लोकों का पाठ सुन कर सीता पति-वियोग भी भूल जाती थी। राम के

अन्य तीनों भाइयों के भी दो-दो पुत्र उत्पन्न हुए। शत्रुघ्न के सुबाहु और बहुश्रुत दो पुत्र हुए जिन्हें उसने मथुरा में प्रतिष्ठापित कर दिया और स्वयं अयोध्या में लौटे। वहाँ पहुँच कर शत्रुघ्न ने विजय-यात्रा का समाचार तो सुनाया किन्तु सन्तानोत्पत्ति का वृतान्त न सुनाया, क्योंकि वाल्मीकि मुनि ने आज्ञा दी थी कि उन्हें मैं यथासमय राम के अर्पण करूँगा, तुम उनके विषय को रहस्यमय रखना।

महाराज रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। तदनन्तर यज्ञ के अश्व को देश देशान्तर में विचरण के लिये छोड़ दिया। तब अयोध्या ऐसी प्रतीत होती थी, मानों अपनी बनाई सृष्टि से घिरी हुई चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्ति हो। एकपत्नीव्रत राम ने यज्ञमंडप में यजमान पत्नी के स्थान पर सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा की स्थापना की थी। राम के यज्ञ की यह विशेषता थी कि राक्षस लोग भी रामचन्द्रजी के यज्ञ के रक्षक बन गये थे।

संयोगवश प्राचेतस मुनि वाल्मीकि की रचना 'रामायण' को श्लोकों में गाते हुए कुश और लव उस समय अयोध्या में घूम रहे थे। राम का पवित्र चरित, वाल्मीकि जैसा कवि, और किन्नर सदृश मधुर स्वरवाले गायक, सुननेवालों को मुग्ध कर रहे थे। राम को जब समाचार मिला तो उत्सुक होकर भाइयों के साथ उन्होंने उन्हें सभा में बुलाया और रामायण सुनी। जैसे शीत ऋतु के प्रभात में वन-वृक्षों के पत्तों से ओस की बूँदे झरने लगती हैं, कुश और लव के मधुर करुणा भरे संगीत को सुनकर सभासदों के नेत्रों से आनन्दाश्रु गिर रहे थे। कोई आँख नहीं थी, जिसमें पानी न हो। सभी को उतना आश्चर्य कुमारों की संगीत में प्रवीणता से नहीं हुआ था, जितना उनके प्रति राम की उपेक्षा से हुआ। जब राम ने उनसे स्वयं पूछा कि यह किस कवि की कृति है, और तुम्हें संगीत की शिक्षा किसने दी है, तो उन्होंने महर्षि वाल्मीकि मुनि का

नाम लिया। तब राम अपने भाइयों को साथ लेकर मुनि के पास गये, और सारा राज्य उनकी सेवा में भेंट कर दिया। वाल्मीकि मुनि ने राम को कुश और लव के सम्बन्ध में सब कुछ बता कर राज्य के बदले में राम द्वारा त्यक्त सीता के ग्रहण की इच्छा व्यक्त की। राम ने विनम्र शब्दों में कहा—'भगवन्, आपकी बेटी तो हम सब के सामने अग्नि-परीक्षा द्वारा शुद्ध सिद्ध हो चुकी है। परन्तु दुर्भाग्य से यहाँ की प्रजा उस पर विश्वास नहीं करती। अतः जानकी इन सबके समक्ष अपने आपको पवित्र सिद्ध करे। तब आप की आज्ञा से मुझे उसको स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है?'

जब राम ने ऐसा आश्वासन दिया तब वाल्मीकि ने अपने शिष्यों द्वारा सीता को अयोध्या में बुलवा या। राम ने राजधानी के नागरिकों को एकत्र कर के आदि कवि को संदेश भेज दिया। सीता और बालकों के साथ ऋषि वहाँ उपस्थित हो गये। सीता केसरिया रंग के कपड़े पहने हुए थी, उनकी आँखें अपने चरणों की ओर झुकी हुई थीं, और मूर्ति शान्त थी। योगासन में बैठे हुए वाल्मीकि मुनि ने राम के सामने आदेश दिया कि 'बेटी, प्रजा के संशय को दूर करो।' मुनि के शिष्य द्वारा दिए हुए जल से आचमन कर के सती सीता ने इस प्रकार प्रार्थना की—'माता वसुन्धरे! यदि मैंने कभी मन, वाणी या कर्म से अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्पर्क नहीं किया हो तो मुझे अपनी गोद में छिपा ले।'

सती सीता का वचन पूरा होते ही पृथ्वी फट गयी और उसमें से बिजली की तरह चमकती हुई ज्योति का एक पिंड प्रकट हो गया। लोगों ने विस्मयान्वित नेत्रों से देखा कि ज्योति के उस मंडल में नाग-फणों द्वारा उठाये हुए सिंहासन पर समुद्र मेखला पृथ्वी स्वयं विराजमान है। उसने आकर सीता को अपनी गोद में ले लिया; सीता भाव-भरे

नेत्रों से अपने पति की ओर देख रही थी और राम 'ठहरो, ठहरो' चिल्ला रहे थे कि पृथ्वी माता सीता को गोद में लेकर विलीन हो गयी। उस समय राम को पृथ्वी पर बहुत क्रोध आया और उसने अपने धनुष की ओर हाथ बढ़ाया। ऋषि ने उसे यह समझाकर शान्त कर दिया कि दैव की यही इच्छा थी और दैव की इच्छा टल नहीं सकती। अतः क्रोध करना व्यर्थ है।

यज्ञ के समाप्त होने पर राम ने ऋषियों और राजाओं को आदर सहित विदा कर दिया और उसके हृदय में सीता के प्रति जो प्रेम था, सीता के पुत्रों में उसे केन्द्रित कर दिया। भरत के मातुल युधाजित के आदेश से राम ने सिन्धु देश भरत को सौंप दिया, जहाँ पहुँच कर भरत ने वहाँ के गन्धर्वों को पराजित किया और उनके हाथों में हथियारों के स्थान पर वीणा पकड़ा दी। भरत ने अपने तक्ष और पुष्कल नाम के पुत्रों को उनके नाम से बनाई हुई 'तक्ष' और 'पुष्कल' नाम की राजधानियों में अभिषिक्त करके स्वयं अपने बड़े भाई के पास लौट आया। महाराज की आज्ञा से लक्ष्मण ने अपने अंगद और चन्द्रकेतु नाम के पुत्रों को कारापथ का राज्य सौंप दिया। इसी समय राम की माताओं का स्वर्गवास हो गया।

एक समय की घटना है। शरीरधारी मृत्यु ने राम से एकान्त में बातचीत करने की अभिलाषा प्रकट करते हुए यह प्रतिबन्ध लगाया कि जो कोई हमको एकान्त में बात करते देखेगा, तुम्हें उसका परित्याग कर देना होगा। राम के स्वीकार कर लेने पर यम ने एकान्त में अपना असली रूप प्रदर्शित करके ब्रह्मा का यह सन्देश सुनाया कि आप स्वर्ग में विराजमान हों। उसी समय क्रोधी मुनि दुर्वासा ने द्वार पर आकर रामचन्द्र से भेंट करने की अभिलाषा प्रकट की। इसे काल की गति ही समझना चाहिये कि सब कुछ जानते हुए भी द्वार की रक्षा के लिए

नियुक्त लक्ष्मण ने स्वयं ही दुर्वासा के क्रोध से डरकर नियम को भंग कर दिया। वह महाराज से आज्ञा लेने अन्दर चला गया। फल यह हुआ कि लक्ष्मण को दंड देना राम के लिये आवश्यक हो गया। बड़े भाई को भावनाओं के संकट से बचाने के लिये लक्ष्मण ने सरयूतट पर योग समाधि द्वारा अपने शरीर का त्याग कर दिया। राम ने भी विधाता के आदेश को सिर नवाकर स्वीकार कर लिया और कुशावती में कुश और शरावती में लव के राज्य की स्थापना करके भाइयों के साथ यज्ञाग्नि के पीछे-पीछे, उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया।

राम ने आततायी रावण का वध और तपस्वियों की रक्षा का कार्य पूरा करके शान्ति रक्षा के लिये उत्तर में हनुमान् और दक्षिण में विभीषण को अपने दो कीर्तिस्तम्भों के समान स्थापित कर दिया और स्वयं स्वर्ग सिधार गये।

जब महाराज रामचन्द्र परलोक चले गये तब अन्य लव आदि सातों रघुवंशी राजकुमार अग्रज होने और गुणवान् होने के करण कुश को अपना श्रेष्ठ मानने और उत्कृष्ट वस्तुओं से उसका अभिनन्दन करने लगे।

राम को अगस्त्य मुनि ने प्रसन्न होकर एक माङ्गलिक कण्ठहार दिया था। राम ने उसे राज्य के साथ ही कुश को अर्पित कर दिया था। नदी में स्नान करते हुए वह हार पानी में डूब गया। कुश को उस हार का ज्ञान न हुआ। जल में रहने वाले किसी नाग ने उसे जीव समझकर खा लिया। जब कुश को उसका ज्ञान हुआ तो क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गयीं और उसने नागों के संहार के लिए गरुड़ास्त्र को हाथ में लिया।

नागों के राजा कुमुद ने त्रिलोकीनाथ श्री राम के वंशज कुश को सिर झुकाकर प्रणाम करके निवेदन किया—

मेरी बाला ने कौतुहल से इस हार को अन्तरिक्ष से गिरने वाली ज्योति की तरह सुन्दर पाकर क्रीडनक समझा और ले लिया। मैं आपकी क्षमा के बदले में अपनी कुमुद्वती नाम की इस छोटी कन्या को आपको भेंट करता हूँ। कुमुद ने सब बान्धवों की उपस्थिति में विधिपूर्वक राजा से कुमुद्वती का विवाह कर दिया।

कुमुद्वती से काकुत्स्थ वंश का बढ़ाने वाला अतिथि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। अतिथि रूप, वीरता और दूरदर्शिता आदि गुणों में रघुकुल के सर्वथा अनुरूप था। वह मंत्रियों से प्रति दिन परामर्श करता था। मित्रों और शत्रुओं में उसके दूत ऐसे प्रच्छन्न रूप में विचरण करते थे कि वे एक दूसरे को भी नहीं जानतें थे। वह पृथ्वी की रक्षा करता था और उसके बदले में पृथ्वी उसे भरपूर पारितोषिक देती थी। वह खानों से रत्न, खेती से अन्न और जंगलों से हाथी देती थी। चन्द्र बढ़कर क्षीण हो जाता है, समुद्र भी चढ़कर उतर जाता है, परन्तु वह जो एक बार बढ़ने लगा तो अपने शासन काल में उतार पर नहीं आया।

राजा अतिथि का निषिध देश की राजकन्या से विवाह हुआ। उससे जो पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ उसका नाम निषिध ही रखा गया। कुश के पौत्र, वीर निषिध ने वर्षों तक समुद्र मेखला पृथ्वी पर निर्विघ्न शासन किया। तत्पश्चात् उसका पुत्र नल सिंहासन पर बैठा। उसके नीले रंग वाला पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम नभ रखा गया। नल ने उत्तर कोसल देश के राज्य का अधिकार उसे दे दिया। नभ के पुत्र का नाम पुंडरीक रखा गया और पुंडरीक का पुत्र क्षेमधन्वा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके पुत्र का नाम देवानीक रखा गया। क्षेमधन्वा भी अपनी कुलप्रथा के अनुसार चारों वर्णों की रक्षा का भार देवानीक पर डालकर स्वयं मोक्ष के मार्ग पर चला गया। देवानीक के पुत्र का नाम अहीनग्र था।

अहीनग्न के देवलोक चले जाने पर राज्यलक्ष्मी ने उसके, पारियात्र नाम के पुत्र को वर लिया। पारियात्र का पुत्र उदारशील बालक था, उसका शिला के समान विशाल और दृढ़ वक्ष था। अतः उसका 'शिल' नाम गुणों के अनुरूप ही रखा गया। पारियात्र ने वयस्क होने पर शिल को युवराज बनाकर सारा राज-काज उसे सौंप दिया, और स्वयं स्वच्छन्द होकर सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगा। परिणाम यह हुआ कि रागरंग से पूरी तरह तृप्त होने से पहिले ही पारियात्र की रानी को वृद्धावस्था ने घेर लिया। शिल के नाभि नाम का पुत्र उत्पन हुआ। अत्यन्त गम्भीर नाभि होने से उसका नाम 'नाभि' रखा गया था। नाभि के पुत्र का नाम वज्रणाय रखा गया। वज्रणाय की मृत्यु पर पृथ्वी उसके शंखण नाम के पुत्र की सेवा में उपस्थित हो गयी। शंखण के पश्चात् उसका पुत्र हरिदक्ष सिंहासन पर बैठा। हरि के पुत्र का नाम विश्वमह रखा गया। विश्वमह के हिरण्य नाम का पुत्र पैदा हुआ। उसके जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका 'कौसल्य' नाम रखा गया। कौसल्य ने सिंहासन पर ब्रह्मिष्ठ नाम के पुत्र को आसीन कर स्वयं ब्रह्मधाम की यात्रा की। कुल शिरोमणि ब्रह्मिष्ठ के उत्तम शासन काल में सुखी प्रजाएँ आँखों से आनन्दाश्रु बरसाती थीं। 'पुत्र' नाम के आत्मज को प्राप्त करके राजा ब्रह्मिष्ठ संतानवालों में अत्यन्त सम्माननीय बन गया। पुत्र के यहाँ पौष पूर्णमासी के दिन पुष्प नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। पुष्प के ध्रुवसंधि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र सुदर्शनी भी अभी बालक ही था कि ध्रुवसन्धि आखेट करने के समय सिंह द्वारा मारा गया। अमात्य लोगों ने प्रजा को अनाथता से बचाने के लिए बालक सुदर्शन को ही साकेत का स्वामी घोषित कर दिया।

राजा सुदर्शन ने वृद्धावस्था आने पर अपने पुत्र अग्निवर्ण को राज-सिंहासन पर बिठा दिया और स्वयं तपस्या करने के लिये मैथिलारण्य की ओर चला गया। अग्निवर्ण को राज्य के भली प्रकार से चलाने में

विशेष असुविधा नहीं हुई। राज्य की रक्षा से निश्चिन्त होकर वह विषय-भोग में प्रवृत्त हो गया।

रघुवंशियों के पराक्रम का इतना आतंक छाया हुआ था कि यद्यपि अग्निवर्ण विषय भोगों में लिप्त रहता था तो भी बाह्य शत्रु साकेत की ओर आँख न उठा सके। रजयक्ष्मा ने अग्निवर्ण की बहुत क्षीण दशा कर दी। उस क्षय-रोगी राजा के कारण रघु के तेजस्वी कुल की अवस्था अस्तोन्मुख चन्द्रमा से युक्त आकाश, गर्मी से सूखे हुए पंकशेष तडाग और बूझते हुए दीपक सी हो गयी। वैद्यों के अनेक यत्नों को लाँघ कर अग्निवर्ण परलोक सिधार गया।

तत्पश्चात् देश के प्रमुख पौरजनों से परामर्श करके अमात्यों ने एकमत हो गर्भ के शुभ चिह्नों से युक्त रानी को राजसिंहासनस्थ कर दिया। स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान रानी राज्य के उत्तराधिकारी की गर्भ में रक्षा करती हुई, मंत्रियों की सहायता से भली प्रकार राज्य का सुचारुरूप से शासन करती रही।

—०—

महाकवि कालिदास रचित

शाकुन्तल-कथासार

पुरुवंश के राजा दुष्यन्त रथ पर बैठकर आखेट के लिए वन में गये। वे एक मृग-शावक का पीछा करते हुए मालिनी नदी के तट पर स्थित महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचे। आश्रम-वासी तपस्वी-कुमारों ने महाराज दुष्यन्त को आश्रम के मृगों को मारने से रोका और उनको चक्रवर्ती–पुत्र लाभ करने का शुभाशीर्वाद दिया। राजा दुष्यन्त की जिज्ञासा पर उन्होंने बतलाया कि गुरु कण्व शकुंतला के प्रतिकूल ग्रहों की शांति के प्रयोजन से सोमतीर्थ गये हुए हैं। तत्पश्चात् वे कुमारी शकुन्तला से आतिथ्य अंगीकार करने के लिए कह कर वन में समिधा एकत्र करने के लिए चले गये।

महाराज दुष्यन्त ने आश्रम के द्वार पर ही रथ से उतर कर अपने आयुधों को त्यागकर आश्रमोचित सौम्य स्वरूप में आश्रम में प्रवेश किया। सारथी थकित घोड़ों की परिचर्या करने लगा। कुमारी शकुन्तला, प्रिय सखी अनसूया और प्रियम्बदा के साथ आश्रम के वृक्षों का सेचन करती हुई, हास-परिहास में मग्न थी। दाहिने अंगों के स्फुरण के शुभ शकुन से स्त्री-प्राप्ति की कल्पना करते हुए आह्लादित राजा, शकुन्तला के स्वाभाविक एवं अनिद्य रूप को देखकर मुग्ध हो गया। वह माधवी लता की आड़ में खड़े हो कर सखियों की वार्ता सुनने लगा। मुकुलित अशोक पर बैठे हुए भ्रमरों ने शकुन्तला को घेर लिया। वह रक्षा के लिए क्रन्दन करने लगी। तत्काल राजा दौड़कर सामने आ गया। तीनों सखियाँ उसे देखकर घबरा गयी। राजा ने शकुन्तला की दुष्ट भ्रमरों से रक्षा की तथा उससे कुशल-समाचार पूछा। प्रियम्बदा ने शकुन्तला से राजा की अर्घ्यादि सेवा करने के लिए कहा, पर राजा ने नम्रता दिखला कर अस्वीकार कर दिया।

सभी लोग सप्तपर्ण वृक्ष की विशाल छाया में एक वेदी पर बैठ गये तथा प्रणय संलाप में लग्न हो गये। राजा ने अपना परिचय देने के उपरान्त जिज्ञासा से पूछा—'महर्षि कण्व तो आजन्म ब्रह्मचारी हैं, तब यह देवी उनकी कन्या कैसे हैं ?' अनसूया ने सारा वृत्तान्त बताते हुए कहा—'राजर्षि कौशिक (विश्वामित्र) जब उग्र तपस्या कर रहे थे तब देवराज ने मेनका नामक अप्सरा द्वारा उनका तप भंग कराया। उसी के परिणामस्वरूप शकुन्तला का जन्म हुआ। महर्षि कण्व नदी के तट पर नित्य-कर्म कर रहे थे, तभी मेनका द्वारा त्यक्त शकुन्तला उन्हें प्राप्त हुई। इसी आश्रम में इसका पालन-पोषण हुआ है।'

इस सुखद बात को सुनकर राजा ने शकुंतला के विवाह के सम्बन्ध में पूछा। तब प्रियम्बदा ने कहा—'महर्षि इसके अनुरूप वर की चिन्ता में हैं।' इस प्रकार मधुर वार्तालाप को सुनकर लज्जित शकुंतला कुञ्ज से उठकर जाने लगी, तब सखियों ने उससे कहा—'हमारे पुष्प-चयन का कार्य समाप्त कराकर जाओ।' तब अनुकूल अवसर पाकर राजा ने स्वनामांकित मुद्रिका प्रणय-चिह्न के रूप में शकुन्तला को दे दी।

इसी समय वन में छुटे हुए सैनिक राजा को खोजते हुए आश्रम में पहुँचे। शकुन्तला राजा को सन्तप्त करती हुई आश्रम के भीतर चली गयी और राजा अपने सैनिकों के साथ अपनी राजधानी की ओर लौट गया।

राजा दुष्यन्त ने अपने सेनापति भद्रसेन को बुलाकर आज्ञा दी कि कोई भी व्यक्ति इस तपोवन के समीप शिकार न खेले। उसने अपने सभी सैनिकों को मृगया के वस्त्र और आयुधों को त्याग देने की आज्ञा दी। इसके बाद अपने परम मित्र विदूषक माधव के साथ एक शिला-खण्ड पर बैठकर उसे राजा ने शकुन्तला को प्राप्त करने का अपना संकल्प बताया। इसी समय दोनों तपस्वी कुमार राजा से मिलने



राजा ने स्वनामांकित मुद्रिका शकुन्तला को दे दी (पृ. ८०)

आये। राजा ने उनका स्वागत कर उनके आगमन का हेतु पूछा। तपस्वी कुमार राजा को फल भेंट कर बोले :—

राजन्, हमारे गुरुदेव आजकल आश्रम पर नहीं हैं अतः आप कुछ दिन इसी आश्रम में विश्राम कर राक्षसों से हमारे यज्ञ की रक्षा कीजिए।' राजा इस अभीष्ट समाचार को सुनकर प्रसन्न हो गया।

इसी समय राजधानी से संदेशवाहक करभक माताओं का सन्देश लेकर राजा के पास आया। उसने कहा—'स्वामिन्, माताओं ने आज्ञा दी है कि आज से चतुर्थ दिन पुत्र-पिण्ड-पालन नामक उपवास का दिवस है। अतः उस दिन राजा राजधानी में अवश्य उपस्थित रहें। राजा इस सन्देश को सुनकर द्विविधा में पड़ गया। कुछ देर विचार कर उसने अपने प्रिय सखा माधव से कहा—'तुम मेरी माताओं के लिए मेरे ही तुल्य प्रिय पुत्र हो। अतः तुम जाकर उस उत्सव में सम्मिलित हो जाओ। मैं आश्रम की रक्षा करना चाहता हूँ।' राजा ने अपनी सम्पूर्ण सेना माधव के साथ राजधानी लौटा दी और स्वयं आश्रम के भीतर चला गया।

जब राजा दुष्यन्त ने ऋषिगण की रक्षा की तो वे निर्द्वन्द्व होकर अपने यज्ञ-कार्य में लग गये। इधर शकुन्तला की प्रिय सहेली प्रियम्बदा खस का गुच्छा लेकर शकुन्तला के मण्डप में जा रही थी, तभी ऋषिकुमारों ने जिज्ञासा से पूछा—'क्या देवी शकुन्तला को लू लग गयी है ?'

यह सुन प्रियम्बदा ने कहा, 'तुम शीघ्र जाकर शकुन्तला की रक्षा करो। महर्षि कण्व की धर्म-भगिनी गौतमी देवी अभिशिक्त शान्ति-जल छिड़ककर शकुन्तला का उपचार कर रही हैं जो लता-मण्डप में शीतल लेपों से वेष्टित पत्रों की शैय्या पर पड़ी है।'

उधर महाराज दुष्यन्त भी उसी मण्डप के पार्श्व-भाग में छिपकर सखियों के प्रेमालाप को सुन रहा था। उपयुक्त अवसर पाकर राजा

उन लोगों के समक्ष उपस्थित हो गया। शकुन्तला उस समय दुष्यन्त के लिए पत्र लिख रही थी। दुष्यन्त को देख कर सभी प्रसन्न हो गयीं। दोनों सखियाँ बहाने से एक मृग-शावक का पीछा करती हुई कुंज से बाहर चली गयीं।

तदनन्तर राजा और शकुन्तला का प्रेमालाप प्रारम्भ हो गया, किन्तु लोक-लज्जा का विचार कर शकुन्तला बीच में ही उठ कर चली गयी। वह चली तो गयी, पर मानसिक आकर्षण होने के कारण समीप ही कुंज में छिपकर राजा का संलाप सुनती रही। राजा को शकुन्तला का कमल-दण्ड निर्मित कंकण मिल गया। राजा उसे उठा कर संताप प्रकट करने लगा। तब अवसर पाकर शकुन्तला उस कंकण को लेने के लिए पुनः उस कुंज में आ गयी। पुनः उनकी प्रेम-लीला प्रारम्भ हो गयी। अन्त में रात्रि का आगमन होने पर शकुन्तला गौतमी के पास चली गयी और राजा दुष्यन्त राक्षसों से पीड़ित ऋषियों का आर्तनाद सुनकर यज्ञ-मण्डप की ओर चला गया।

जब शकुन्तला की विदाई का समय आया तब महर्षि कण्व का हृदय विदीर्ण होने लगा। वे आश्रम की वस्तुओं को देख-देख कर विलाप करने लगे। सखी प्रियम्बदा और अनसूया भी विलाप करने लगीं। शकुन्तला द्वारा पोषित मृग-शावक उसके आँचल को मुँह से पकड़ कर खींचने लगा मानो शकुन्तला को जाने से रोकता था। सभी पशु-पक्षी विदाई के दुःख से परितप्त हो गये। शकुन्तला अपनी सींची हुई माधवी लता से भेंट करने लगी।

कण्व मुनि ने अपने शारङ्गरव और शारद्वत नामक दो शिष्यों के साथ शकुन्तला को पतिगृह भेजने का प्रबन्ध किया। गौतमी देवी भी प्रेम-वश साथ में चलने को तैयार हो गयीं। कण्व ने अपने शिष्यों द्वारा दुष्यन्त को संदेश भेजा—'हम तपस्वियों के पास केवल तपस्या रूपी धन है। हम शकुन्तला के साथ आशीर्वाद में वही भेज रहे हैं। आपका

वंश श्रेष्ठ है फिर भी आपका शकुन्तला से प्रणय हुआ, इससे आप की उन्नति होगी। आप सभी रानियों के साथ समभाव रखें।

महर्षि कण्व ने शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए गद्गद कण्ठ से कहा—'बेटी, पति के घर में गुरुजनों की सेवा करना, सपत्नियों (सौतों) के साथ प्रिय सखियों के समान बर्ताव करना। स्वामी यदि कदाचित् अनादर भी करें, तो भी उनके प्रतिकूल आचरण न करना। सेवकों पर उदारता रखना। भोगों में लिप्त होकर भी अभिमान न करना।' सखियों ने भी उसे शिक्षा दी—'शकुन, यदि पति तुम्हें पहचान न सके तो उनकी दी हुई अँगूठी उन्हें दिखा देना।' तदनन्तर हिचकियों के बीच शकुन्तला गौतमी एवं ऋषि कुमारों के साथ बिदा कर दी गयी।

शकुन्तला दोनों तपस्वीकुमारों और गौतमी के साथ दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर में पहुँच गयी। कंचुकी पार्वतायन ने राजा को उनके आगमन की खबर पहुँचा दी। राजा ने अपने कर्मचारी सोमरात को उनके आतिथ्य सत्कार में लगा दिया। वह स्वयं भी प्रतीक्षा-गृह में जाकर उनसे मिला। शकुन्तला का दक्षिण नेत्र फड़कने लगा, इस अपशकुन के कारण वह चिन्तित हो गयी। ऋषि कुमारों ने महर्षि कण्व की आज्ञानुसार राजा से शकुन्तला को ग्रहण करने की प्रार्थना की, किन्तु पूर्वविस्मृति के कारण राजा दुष्यन्त शकुन्तला को पहचान न सके। उन्होंने इस प्रस्ताव को प्रवंचना समझ कर शकुन्तला के साथ हुए अपने गान्धर्व-विवाह को सर्वथा अस्वीकार कर दिया।

गौतमी के स्मरण दिलाने पर भी दुष्यन्त ने शकुन्तला को पहचानने से इन्कार कर दिया तो शकुन्तला ने राजा को अपने सम्बन्ध का स्मरण दिलाने के लिए अपनी उँगली से अँगूठी उतार कर देने का विचार किया। परन्तु जब उसने अँगूठी उतारने के लिए अपनी उँगली देखी तो उसे न पाकर वह अवाक् रह गयी और गौतमी का मुख देखने लगी।

गौतमी ने शकुन्तला को उद्विग्न देखकर कहा—'ज्ञात होता है कि जब तुम शचीतीर्थ को प्रणाम कर रही थी तभी तुम्हारी अँगूठी जल में गिर गयी।' यह सुनकर राजा ने कहा—'यह सब तो स्त्रीजनों की चातुरी है।' शकुन्तला ने अनेक युक्तियों से उसे समझाने का प्रयत्न किया किन्तु शापवश राजा ने कुछ भी स्वीकार न किया। अन्त में शकुन्तला विह्वल होकर रोने लगी। ऋषिकुमार और गौतमी उसके भाग्य के ऊपर वहीं शकुन्तला को छोड़कर जाने लगे तो शकुन्तला भी विलाप करती हुई उनके साथ जाने को तैयार हुई। इस पर ऋषिकुमार और गौतमी ने अनेक प्रकार से उसकी भर्त्सना की और कहा कि पतिगृह में उसका रहना ही श्रेयस्कर है। उनके चले जाने के बाद शकुन्तला करुण क्रन्दन करने लगी। उसी समय उसकी माँ मेनका आयी और शकुन्तला को लेकर आकाश-मार्ग से चली गयी। राजा इस आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर बहुत चिन्तित हुआ और अवाक् रह गया।

एक दिन की घटना है कि कुछ राज्यकर्मचारी एक धीवर को पकड़ कर राजा के समक्ष लाये। यह धीवर राजा की नामाङ्कित अँगूठी बाजार में बेंच रहा था। पूछताछ करने पर उस धीवर ने बतलाया कि मुझे यह अँगूठी शचीतीर्थ में एक मछली के पेट से प्राप्त हुई है। इस अँगूठी को देखते ही शकुन्तला की स्मृति राजा को व्याकुल करने लगी।

मेनका की एक सखी मिश्रकेशी आकाश-मार्ग से राजा दुष्यन्त का समाचार लेने हस्तिनापुर आयी। उसने उपवन में परभृतिका और मधुरिका नामक दो सखियों को कंचुकी से वार्तालाप करते हुए सुना। वे आपस में वार्तालाप कर रही थीं कि आज राजा ने शकुन्तला के वियोग में वसन्तोत्सव न मनाने की आज्ञा दी है। उसी समय प्रियतमा के शोक से सन्तप्त महाराज दुष्यन्त और विदूषक भी उसी उपवन में आ गये। राजा शकुन्तला के परित्याग पर पश्चात्ताप कर रहा था।

मिश्रकेशी ने लता-मण्डप के पीछे छिप कर देखा कि चित्रकार मधुरिका ने राजा की आज्ञा से शकुन्तला का एक चित्र बनाया है और राजा ने उस चित्र को देखकर चतुरिका से रंग की पेटी और तूलिका लाने को कहा। वह उसमें महर्षि कण्व के आश्रम और वन्य प्रदेश की शोभा चित्रित करना चाहता था। चतुरिका यह सामग्री ला ही रही थी कि किसी सेविका ने राजरानी वसुमती को राजा द्वारा किसी अन्य नायिका के चित्र बनाये जाने की चुगली की। अतः रानी ने ईर्ष्या में आकर चतुरिका से रंग और तूलिका बीच ही में छीन ली। महारानी अपनी दासी द्वारा बतलाये तथ्य को जानने के लिए कुंज की ओर चलने को उद्यत हुई कि इसी बीच उसी दासी ने उपवन में उसके आगमन का समाचार राजा को सुना दिया। राजा सतर्क हो गये। माधव चित्र-फलक को छिपाकर एक ओर भाग गया।

विदूषक उपवन के बाहर जा ही रहा था कि इन्द्र के सारथी मातलि ने उसे मार्ग में पकड़ लिया। वह आर्तनाद करने लगा। राजा हाथ में धनुष बाण लेकर उसकी रक्षा के लिए दौड़ कर आये, तो मातलि ने राजा को सम्बोधन कर कहा—'महाराज, मैंने आपको सावधान करने के लिए माधव को पकड़ा था। स्वर्ग में इन्द्र के ऊपर कालनेमि के वंशज दुर्जय राक्षसों की सेना ने आक्रमण कर दिया है। आपसे प्रार्थना है कि स्वर्ग चलकर आप उनकी रक्षा करें।' राजा देवेन्द्र के रथ पर चढ़कर स्वर्ग के लिए प्रस्थित हुआ। स्वर्ग की दूती मिश्रकेशी, जो छिपकर सब कुछ देख रही थी, तत्काल शकुन्तला से यह समाचार कहने के लिए चल पड़ी।

स्वर्ग में राक्षसों को पराजित कर तथा देवेन्द्र से सम्मानित होकर राजा दुष्यन्त मातलि के साथ विमान में बैठकर आकाश-मार्ग से हेमकूट पर्वत की ओर चला, जहाँ कश्यप प्रजापति अपनी पत्नी के साथ तपस्या

कर रहे थे। राजा उनके दर्शनार्थ वहीं उतर गया। आश्रम में पहुँचने पर राजा को विदित हुआ कि इस समय महात्मा कश्यप दाक्षायिणीदेवी को पातिव्रत धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अतः मन बहलाने के लिए राजा आश्रम के उपवन की ओर चला गया। इसी समय राजा को शुभ शकुन होने लगे। उत्सुकतावश आगे बढ़ने पर राजा ने एक सुन्दर तेजस्वी बालक को सिंह-शावक के दाँत गिनते देखा। पूछने पर राजा को ज्ञात हुआ कि इस बालक का नाम भरत है। संयोगवश उस बालक के हाथ की रेखाओं में उसके चक्रवर्ती होने के चिह्न भी राजा को दीख पड़े। ऋषि-कन्याओं के मना करने पर भी वह बालक उस सिंह–शावक को छोड़ नहीं रहा था। राजा स्वयं उसे रोकने के लिए निकट आये। उस बालक और राजा की एकसी मुखाकृति देखकर तापस-कन्याओं को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

वीर बालक भरत के हाथ में कश्यप ऋषि द्वारा अभिमन्त्रित रक्षा-सूत्र था। यदि यह रक्षा-सूत्र कभी हाथ से गिर जाता तो शकुन्तला ही उसे फिर से पुत्र के हाथ में बाँध देती थी; क्योंकि यदि अन्य कोई माता-पिता के अतिरिक्त इस मन्त्राभिषिक्त सूत्र को स्पर्श करता था तो वह सर्प बनकर उसे काट लेता था। जब दुष्यन्त बालक की शोभा निहार रहा था तब अकस्मात् वह सूत्र उसके हाथ से छूट कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। दुष्यन्त ने उसे उठाकर पुनः बालक के हाथ में बाँध दिया। उस सूत्र से राजा का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। ऋषि-कन्याएँ यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गयीं। उन्होंने शकुन्तला को जाकर समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। राजा बालक को उठाकर उसका सुधावर्षी चुम्बन करने लगा। अधीर शकुन्तला राजा का आगमन सुनकर तुरन्त दौड़ी आयी। महाराज दुष्यन्त ने शकुन्तला से अपने अपराध की क्षमा माँगी। शकुन्तला ने भी दुर्वासा का शाप और अँगूठी के खोने का समस्त



सिंह के दाँत गिनता हुआ बालक भरत (पृ. ८६)

वृत्तान्त राजा को कह सुनाया। दोनों का आनन्द-दायक सम्मिलन हुआ।

इतने में मातलि ने आकर दुष्यन्त को सारा रहस्य बतलाया कि वस्तुतः देवराज इन्द्र ने इसी कारण आपको बुलाया था; देवासुर संग्राम तोएक नाटकमात्र था। महर्षि कश्यप की कृपा से आपका शकुन्तला से पुनर्मिलन हुआ है।

तब वे सभी कश्यप मुनि के पास गये। मुनि ने राज-दम्पती को अनेक शुभाशीर्वाद दिये। अपने शिष्य गालव द्वारा उन्होंने यह सुखद-समाचार महर्षि कण्व के पास भी भिजवा दिया। चक्रवर्ती पुत्र भरत को प्राप्त कर सम्राट् दुष्यन्त ने अपनी प्रियतमा सम्राज्ञी शकुन्तला के साथ सहर्ष सोत्साह अपनी राजधानी की ओर प्रयाण किया।

महाकवि-भवभूति

संक्षिप्त परिचय

भवभूति अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे और मीमांसा शास्त्र के अच्छे जानकार रहे होंगे जैसा कि यत्र-तत्र किये गये संकेतों से पता चलता है। उन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य-योग, आदि शास्त्रों कागं भीर अध्ययन किया था और व्याकरण, साहित्यशास्त्र तथा तर्कशास्त्र में वे निष्णात थे। यद्यपि भवभूति इतने गम्भीर विद्वान् थे और कई स्थानों पर वे पाण्डित्यप्रदर्शन में फँसे भी हैं, तथापि उनकी कविता कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं बन पाई, यह बड़े ही हर्ष का विषय है। भवभूति शिव के भक्त थे और उनके तीनों नाटकों की प्रस्तावना में संकेत मिलता है कि वे कालप्रियानाथ (संभवतः उज्जयिनी के महाकाल) के समक्ष खेले जाने के लिए लिखे गये थे।

भवभूति के जन्मस्थान एवं वंश-परम्परा के विषय में उनके नाटकों की प्रस्तावना से ही संकेत मिलता है। वे पद्मपुर के निवासी तथा उदुम्बर कुल के ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम भट्ट गोपाल था, जो स्वयं महाकवि थे और इनके पिता का नाम नीलकंठ तथा माता का नाम जतुकर्णी था। भवभूति का दूसरा नाम 'श्रीकण्ठ' भी था। कुछ विद्वान् कवि का वास्तविक नाम भवभूति न मान कर श्रीकण्ठ मानते हैं। किंवदंतियों के अनुसार कवि का 'भवभूति' नाम एक सुंदर प्रयोग के कारण चल पड़ा था। देवी पार्वती की वंदना में बनाये हुए एक पद्य में श्रीकण्ठ ने 'भवभूति' का प्रयोग किया था, उससे चमत्कृत होकर सहृदय पण्डितों ने कवि का उपनाम ही 'भवभूति' रख दिया।

भवभूति ने स्वयं अपना पूरा परिचय अपने नाटकों की प्रस्तावना में दिया है; किन्तु किसी आश्रयदाता का कोई संकेत नहीं किया। इसलिए भवभूति किस समय विद्यमान थे, इसका कोई स्पष्ट संकेत उनके नाटकों में नहीं मिलता। राजतरंगिणी के अनुसार यशोवर्मा के दरबार में भवभूति आदि कई कवि

थे। इस आधार पर भवभूति का समय ७५० ई० के लगभग मानते हुए उनका रचनाकाल ७००-७५० ई० मानना होगा। भवभूति को यशोवर्मा का आश्रय अन्तिम दिनों में मिल गया था, जब भवभूति की कृतियों ने उन्हें प्रसिद्ध बना दिया था। जीवन के मध्यकाल में भवभूति किसी राजा के आश्रित न थे और यही कारण है कि उनके किसी नाटक में किसी भी राजा का संकेत नहीं मिलता। यह अनुमान करना भी अप्रासंगिक न होगा कि भवभूति को जीवन में कितनी ही प्रताड़नाएँ और अनादर सहने पड़े होंगे। श्रीमन्तों ने भवभूति के कवित्व और पाण्डित्य की उपेक्षा की होगी। भवभूति ने अपने जीवन का अधिकांश दुःख और दारिद्रय में बिताया ऐसा जान पड़ता है। फलतः भवभूति का स्वभाव गंभीरता धारण करता पाया जाता है। कालिदास में जो आह्लाद, उल्लास और आशावादी दृष्टिकोण है, वह भवभूति में नहीं मिलता। भवभूति की परिस्थितियों ने उन्हें निराशावादी बना दिया था। वे करुणा और वेदना को अधिक प्यार करने लग गये थे। जीवन के गंभीर पहलुओं में अधिक रुचि लेने लगे थे। भवभूति ने स्वयं एक स्थल पर उन लोगों को चुनौती दी थी, जो उनके मूल्य को नहीं आँक सके थे। दुःखी भवभूतिं को बाहर से फिर भी एक आशा थी कि कभी न कभी इस मोती के मूल्य को समझने वाला कोई जौहरी अवश्य पैदा होगा; क्योंकि पृथ्वी बहुत बड़ी है और काल अनन्त है। भवभूति ने इसीलिए रचनाएँ उन लोगों के लिए नहीं की, जो उनके समसामयिक थे और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। वे अपनी कृतियाँ भावी भावुकों के लिए, भवभूति के किसी 'समानधर्मा' के लिए, लिखते रहे। भवभूति की इस वाणी में उपेक्षा करने वालों को फटकार हो, पर कवि की वेदना, पीड़ा और उसे समाज के हाथों मिला दुर्व्यवहार स्पष्ट ध्वनित हो उठता है।

भवभूति की मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित ये तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं और तीनों रूपक (नाटक) हैं।

महाकवि भवभूति-रचित

मालती माधव-कथासार

प्राचीन भारतवर्ष में जिस प्रकार तक्षशिला, नालन्दा और वाराणसी विद्याकेन्द्र थे, उसी प्रकार विदर्भ भी विद्याध्ययन का केन्द्र था। विशेषतः विदर्भ प्रदेशान्तर्गत पद्मावती नगर के निकट ही एक बृहत् विद्यापीठ था, जहाँ अध्ययन के लिये दूर-दूर के छात्र आते थे। विद्याध्ययन के इसी केन्द्र में देवरात और भूरिवसु नामक दो छात्र भी प्रविष्ट हुए। स्वभाव-समता एवं दीर्घ सहवास के कारण शीघ्र ही वे एक-दूसरे के अभिन्न-हृदय मित्र बन गये। इसी संस्था में कामन्दकी और सौदामिनी नामक दो कुमारियाँ भी शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। अपने स्नेहपूर्ण स्वभाव के कारण इन कुमारियों और कुमारों में प्रगाढ़ मैत्री स्थापित होने में विलम्ब न लगा।

वर्ष के उपरान्त वर्ष बीतते गये। चारों छात्र-छात्राओं ने अपना पाठ्यक्रम पूरा कर लिया और अन्तिम परीक्षा के पश्चात् विद्यालय से उनके विदा होने की घड़ी भी आ पहुँची। विद्यालय से प्रस्थान करने से पहले अन्तिम बार एक-दूसरे से मिलने के हेतु चारों एकत्र हुए। भावी-वियोग के विचार से उनके चित्त खिन्न एवं उद्विग्न थे। भविष्य में किसकी क्या कार्य-विधि होगी, इस सम्बन्ध में उनके बीच संक्षिप्त वार्तालाप हुआ। कामन्दकी और सौदामिनी ने आजीवन अविवाहित रहने और बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर अध्ययन-अध्यापन कार्य में ही अपने आप को संलग्न रखने का निश्चय प्रकट किया। देवरात और भूरिवसु ने स्वदेश लौटकर राजसेवा में संलग्न रहने की अभिलाषा प्रकट की। दोनों की यह दृढ़ धारणा थी कि उनके पिता राजा के अत्यन्त कृपा-पात्र हैं। इसलिए उन्हें कालान्तर में उच्च पदों की प्राप्ति में कोई असुविधा न होगी।

विदाई के समय चारों ने यह प्रबल इच्छा प्रकट की, कि छात्र-जीवन का यह स्नेह-सम्बन्ध किस प्रकार सदैव अटूट रहे। देवरात ने कहा—'यहाँ से प्रस्थान करने के पश्चात् न जाने पुनः किससे कब भेंट होगी। फिर भी इस घड़ी मेरे मन में जिस कल्पना की उत्पत्ति हुई है और जो भविष्य में हमारे इस स्नेह-सम्बन्ध की पुष्टि में समर्थ हो सकती है, उसको मैं आप सबके सामने व्यक्त करना चाहता हूँ। वह यह है कि यदि मुझे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई और भूरिवसु को कन्या-रत्न की, अथवा भूरिवसु के घर पुत्रजन्म हुआ और मेरे घर कन्याजन्म हुआ तो हम अपनी इन सन्तानों को परिणय के सूत्र में बाँध कर अपने वर्तमान स्नेह-सम्बन्ध को चिरस्थायी बना दें।' भूरिवसु ने उत्तर दिया—'यह एक अत्युत्तम कल्पना है और मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरी कन्या का विवाह देवरात के सुपुत्र के साथ होगा या मैं देवरात की पुत्री को प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुत्रवधू बना लूँगा।' यह सुनकर कामन्दकी बोली—'बान्धवों! आपकी यह कल्पना मुझे भी अत्यन्त रुचिकर लगी है तथा मैं और सौदामिनी दोनों ही इस शुभ कार्य में सम्मिलित होकर आप दोनों की मनःकामना सफल करने में अत्यन्त सहायक होंगी। उस शुभ अवसर पर एकत्र होकर विगत-जीवन की सुखद घटनाओं की याद करने में हम चारों को अवश्य ही अत्यन्त प्रसन्नता होगी!'

विद्यालय से विदा होकर कामन्दकी बौद्ध भिक्षुणी बन गयी और पद्मावती नगरी के बाहर उसने एक नारी-शिक्षाश्रम की स्थापना की। कामन्दकी बहु-श्रुत और विशिष्ट विषयों के अध्ययन में पारंगत थी। इन्हीं विषयों के अध्ययन के लिए कुछ काल के लिए सौदामिनी अपनी पुरानी सखी के पास रह गयी। योगशास्त्र की विद्यार्थिनी बन कर फिर वह श्रीपर्वत की ओर चली गयी।

देवरात स्वदेश लौटकर राजसभा में एक पदाधिकारी हो गया। उसने अपनी कुशाग्र बुद्धि और सदाचरण के कारण दिन-प्रति-दिन

उन्नति-पथपर अग्रसर होते हुए प्रधान-मन्त्री-पद प्राप्त किया। यथासमय उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम माधव रखा गया। माधव ने जब पाँचवें वर्ष में पाँव रखा तब उसकी शिक्षा का आरम्भ हुआ। जन्मतः मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न बालक माधव की शिक्षाक्षेत्र में द्रुतगति से उन्नति होती गयी। बीस वर्ष तक पिता की देख-रेख में रह कर माधव अनेक शास्त्रों और शस्त्रास्त्रों की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षा में निपुण हो गया। तत्पश्चात् उच्च विद्याध्ययन के हेतु देवरात ने माधव को पद्मावती भेज दिया।

मकरन्द माधव का बालसखा था। वह भी माधव के साथ पद्मावती पहुँचा। मकरन्द पद्मावती-नरेश के सेनापति का सुपुत्र था। इन दोनों की परिचर्या के लिए माधव के परिवार का एक युवा भृत्य कलहंस भी पद्मावती आ गया था।

माधव का विदेश में किसी से भी परिचय नहीं है, यह सोच कर देवरात चिन्तित था। उसने कामन्दकी से अनुरोध किया कि वह माधव और मकरन्द की देख-रेख करे। देवरात की यह साधारण प्रार्थना कामन्दकी ने सहर्ष स्वीकार की। पद्मावती पहुँचने पर माधव ने सर्व-प्रथम कामन्दकी से उसके आश्रम में जाकर भेंट की। उसने भी प्रेमपूर्वक माधव का स्वागत किया। माधव वहाँ प्रायः कामन्दकी से मिलता-जुलता रहा। अपने मधुर स्वभाव और उत्तम गुणों के कारण कामन्दकी के स्नेहपात्र बनने में उसे देर न लगी। माधव के संग उसका सखा मकरन्द भी कामन्दकी के आश्रम में आता-जाता रहा और अपने विनम्र एवं मधुर स्वभाव के कारण माधव की भाँति वह भी शीघ्र ही कामन्दकी का स्नेह-पात्र बन गया। इनके मिलने-जुलने की कुछ ऐसी परिपाटी बँध गयी कि कभी कभी उसमें वाधा पड़ जाती तो कामन्दकी व्याकुल हो जाती थी। दोनों कुमारों की प्रगति की ओर वह बराबर ध्यान देती रही

और वे भी, विशेषकर माधव अपने पूज्य पिता की इस सहपाठिनी भगिनी के आदेशों का सदा सादर पालन करता रहा।

भूरिवसु का वृत्तान्त तो रह ही गया। वह विद्याध्ययन समाप्त कर पद्मावती-नरेश की सेवा में उपस्थित हो गया। सदाचार, सत्यता, लगन और बुद्धि के प्रभाव से वह छोटे से पद से उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच गया। पद्मावती-नरेश ने प्रसन्न होकर उसको अपना प्रधान मन्त्री बना दिया।

भूरिवसु की धर्मपत्नी उसके सर्वथा अनुरूप थी। इस दम्पति ने सर्वप्रथम एक कन्या-रत्न को जन्म दिया। जिसका नाम मालती रखा गया। 'मालती' के जन्म के उपरान्त भूरिवसु के घर कामन्दकी के यातायात की गति कुछ बढ़ गयी। जहाँ एक ओर नवजात मालती के प्रति वह विशेष आकृष्ट रहने लगी थी, वहाँ भूरिवसु के परिवार वाले भी अब उसकी मान-मर्यादा को अधिक ध्यान रखने लगे थे। भूरिवसु की पत्नी तो कामन्दकी को अपनी बड़ी ननद ही मानने लगी थी। यद्यपि कामन्दकी भिक्षुणी बन गयी थी और गार्हस्थ्य को बहुत पहले ही त्याग चुकी थी तथापि मालती के प्रति स्नेहासक्त होकर वह इस मायापाश में उत्तरोत्तर उलझती जा रही थी। पाँच वर्ष व्यतीत करने के बाद मालती सेवकों को साथ लेकर नित्य अपनी इस बूआ के आश्रम में जाने लगी। उसकी बाल-लीलाओं ने आश्रमवासियों को मुग्ध कर लिया।

मालती शुक्लपक्ष के चन्द्र के समान बड़ी होती गयी। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती गयी, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक अत्यन्त रूपगुण-सम्पन्न भी होती गयी। वह अत्यन्त सुन्दरी तो थी ही, स्वस्थ, सद्गुण-सम्पन्न और विनयशील भी कम नहीं थी। बड़ों-बूढ़ों के बीच वह सदैव मौन धारण किये रहती थी। जब माधव और मकरन्द विद्याध्ययन के लिए पद्मावती में पहुँचे तब मालती सत्रह वर्ष की हो चुकी थी। लेखन-

वाचन, चित्रकारी और अन्य कलाओं में वह बहुत ही प्रवीण हो चुकी थी।

बहुत दिनों तक भूरिवसु को देवरात ने अपने पुत्र के सम्बन्ध में कुछ भी खबर नहीं दी। सम्भवतः इसका कारण कूटनीतिसम्बन्धी भी रहा हो। ये दोनों गुरु-बन्धु जिन दो विभिन्न राज्यों के प्रधानमन्त्री थे उन राष्ट्रों के बीच मैत्री न होने के कारण ये प्रकट रूप से परस्पर प्रेमभाव व्यक्त करने में कठिनाई अनुभव करते रहे होंगे। देवरात की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि भूरिवसु की पुत्री के साथ उनके पुत्र का विवाह किया जाय। इसी प्रयोजन से माधव को पद्मावती भेजा गया था। प्रथम दिन से ही कामन्दकी को मन ही मन यह विश्वास हो चुका था कि उसकी स्नेहपात्र मालती के अनुरूप वर माधव ही है। भूरिवसु और देवरात की प्रतिज्ञाओं का भी उसको पूर्ण स्मरण था। अतएव वह निरन्तर प्रयत्नशील रही कि मालती और माधव विवाह के चिरस्थायी संबन्ध सूत्र में बँध जाँय।

कामन्दकी यदा कदा माधव से मालती के गुणों की चर्चा कर देती थी। एक दिन भूरिवसु के गगनभेदी भवन के सामने से जाते हुए माधव पर मालती और उसकी सहेलियों की दृष्टि पड़ गयी। स्वभावतः इस परदेशी पुरुष के प्रति उनके मन में आश्चर्य हुआ। उसी समय भूरिवसु के घर उपस्थित कामन्दकी ने मालती एवं उसकी सखियों के सामने माधव के कुल, शील और सद्गुणों का आद्योपान्त वर्णन करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया कि माधव को उसके पिता ने पद्मावती में किस उद्देश्य से भेजा है।

अवलोकिता, जो कि आश्रम की एक विद्यार्थिनी थी प्रायः मालती के घर आया-जाया करती थी। वही माधव के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालती को सुना दिया करती और समय-समय पर उसके सामने

माधव का स्तुति-गान करने का अवसर भी ढूँढ लेती थी। एक दिन कामन्दकी ने अवलोकिता से प्रश्न किया—'वत्से! देवरात और भूरिवसु की पुत्र-पुत्री का शुभ-विवाह शीघ्र ही सम्पन्न हो तो जायगा और क्या इस विवाह के रूप में मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी?' अवलोकिता बोली—'देवी जी! जब आप आत्मसुख को त्याग बैठी हैं और वैराग्य ले चुकी हैं तब मालती-माधव के विवाह की चिन्ता में आपका इस प्रकार प्रयत्न-शील रहना क्या आपके वेशभूषा के अनुकूल है?'

इस पर कामन्दकी ने अवलोकिता को पिछली समस्त बातें सविस्तर सुना दी। अवलोकिता ने फिर पूछा—'यदि यही वस्तुस्थिति है, तो प्रधानामात्य भूरिवसु मालती का विवाह देवरात के पुत्र माधव के साथ क्यों नहीं कर देते? वह तो मालती के विवाह के विषय में सर्वथा मौन हैं। ऐसी कौन सी असुविधा है?

कामन्दकी ने प्रत्युत्तर दिया—'इस विवाह-कार्य में एक विघ्न उत्पन्न हो जाने की सम्भावना से ही उभय प्रधानमंत्री इस सम्बन्ध में मौन हैं।'

पद्मावती-नरेश का नन्दन नामक एक सेनापति अत्यन्त कृपा-पात्र था। यद्यपि उसकी अवस्था चालीस वर्ष के ऊपर जा चुकी थी तथापि उसे विवाह करने की उत्कट अभिलाषा थी। वह मालती को बहुत चाहता था और उसने अपने राजा से यह अनुरोध किया कि वे भूरिवसु से वार्तालाप कर मालती का विवाह उसके साथ करा दें। तदनुसार भूरिवसु से इस सम्बन्ध में पद्मावती-नरेश से परामर्श भी किया। चतुर भूरिवसु ने केवल इतना कह कर बात टाल दी कि—'मेरी पुत्री पर सर्वथा आप का ही अधिकार है'। वस्तुतः उसकी हार्दिक अभिलाषा यही थी कि मालती का शुभ-विवाह माधव के साथ ही सम्पन्न हो। फिर भी वह इस रहस्य को राजा से छिपा रखना चाहता था और इसी कारण उसने यह महान् कार्य कामन्दकी को सुपुर्द कर दिया। कामन्दकी ने भी यह कार्यभार

सहर्ष उठा लिया और ये समस्त बातें उसने अपनी शिष्या अवलोकिता को बता दीं।

इस अवसर पर एक विशेष घटना घटित हुई। उसी सप्ताह पद्मावती की सीमापर स्थित एक उद्यान में भगवान् शंकर के उत्सव का आयोजन हुआ। इस उत्सव को देखने के लिये नगरवासियों की प्रतिदिन भारी भीड़ लगा करती थी। अवलोकिता के कहने पर उक्त उत्सव के दर्शनार्थ एक दिन मालती ने भी दास-दासियों के साथ वहाँ जाने का विचार प्रकट किया। माधव से भी अवलोकिता ने आग्रह किया कि मध्याह्नोप-रान्त उत्सव-स्थान पर भीड़ अपेक्षाकृत कम रहेगी, अतः वह उसी समय जाकर उत्सव देख आयें। इसी निश्चय के अनुसार एक दिन दोपहर के समय माधव उत्सव देखने गया और उत्सव के समस्त आयोजनों को देखने के बाद उद्यान के उपान्त पर स्थित बकुल-वृक्ष की छाया में विश्रामार्थ बैठ गया। पेड़ तले बिखरे हुए फूल एकत्र कर वह उन फूलों की एक माला तैयार करने में संलग्न हो गया। इस काम में वह था भी अत्यन्त प्रवीण। कुछ ही समय के पश्चात् अपनी दो सखियों के साथ मालती भी वहीं पहुँच गयी। तब उचित अवसर देखकर मालती को अंगुलि-निर्देश से उसकी सखियों ने सूचित किया कि 'माधव यही है।' उसी क्षण मालती-माधव का परस्पर साक्षात्कार हुआ।

मालती कुछ ही समय उद्यान में ठहरी और फिर हाथी पर सवार हो कर घर वापस चली आयी।

मालती के लौट जाने के कुछ ही क्षण बाद मालती की सहेला लवंगिका शिवालयवाले उद्यान में पहुँची। वहाँ पर पहले से ही उपस्थित माधव को अभिवादन कर लवंगिका ने कहा—'महानुभाव! आपके द्वारा पिरोयी गयी यह बकुल-माला हमारी सखी मालती को बहुत ही रुचिकर लगी। आपका हस्तकौशल देख कर वह मुग्ध हुई और यदि



माधव वकुल वृक्ष के फूलों की माला तैयार करने में
संलग्न हो गया (पृ० ९६)

आप यह माला कण्ठ में धारण करने के लिए उन्हें दे डालेंगे तो वह अपना अहोभाग्य समझेगी।

माधव ने लवंगिका से उसकी सखी का परिचय पूछा।

'मालती प्रधानामात्य भूरिवसु की इस सुपुत्री का नाम है और मैं हूँ उसकी अभिन्नहृदया सखी लवंगिका।'

माधव ने प्रसन्नतापूर्वक अपने पास की पुष्पमाला लवंगिका को दे दी।

मालती के प्रथम दर्शन के समय से ही माधव उस पर आकृष्ट हो गया था। इससे पूर्व भी अनेक बार कामन्दकी के मुख से मालती के गुण-गान सुनने के कारण उसके प्रति माधव के हृदय में और भी अधिक आकर्षण हो गया था। फलतः मालती एवं उसकी सहेली लवंगिका के चले जाने के बाद वह चिन्ताग्रस्त एवं उद्विग्न सा उद्यान में एकाकी बैठा ही हुआ था कि उसका मित्र मकरन्द वहाँ आ पहुँचा।

माधव को असाधारण रूप से चिन्तामग्न देखकर मकरन्द को आश्चर्य हुआ। परन्तु स्थिति की वास्तविकता ज्ञात होने पर उसने सन्तोष की साँस ली। हाल ही में प्राप्त इस समाचार से कि भूरिवसु अपनी पुत्री का विवाह नन्दन के साथ करा देना चाहता है, मकरन्द चिन्तित हो गया।

माधव और मकरंद वार्तालाप में मग्न थे ही कि इसी बीच माधव का भृत्य कलहंस एक चित्र लेकर वहाँ आ पहुँचा। दोनों को वार्तालाप में मग्न देख कर पहले तो वह एक वृक्ष की आड़ में छिप गया; किन्तु उनके वार्तालाप का विषय मालती ही है, यह जानकर आगे बढ़ कर उसने उक्त चित्र दोनों को दिखा दिया। यह चित्र, जो माधव का ही था, इस सेवक के हाथ कहाँ से लगा, यह बात दोनों की ही समझ में नहीं आ रही थी। पूछने पर कलहंस ने ही बताया कि स्वयं मालती

ने अपने मनोरंजनार्थ यह चित्र अंकित किया था, जो भूरिवसु की दासी मन्दारिका मालती की सहेली लवंगिका से माँग ले आयी थी। कलहंस के पास की रंग-सामग्री लेकर माधव ने इसी चित्र के पृष्ठ भाग पर मालती का एक सुन्दर चित्र अंकित कर दिया।

मन्दारिका को, जो कलहंस के पीछे-पीछे ही उपवन में अपना चित्र माँग लाने के लिए पहुँच गयी थी, कलहंस की यह कार्यवाही जरा भी अच्छी न लगी। उसको आशंका थी कि कहीं इसके कारण उसको व्यर्थ में मालती एवं लवंगिका का रोषपात्र न बनना पड़े। अपना चित्र उसने कलहंस से वापस माँगा, परन्तु उसके पृष्ठ भाग पर अंकित नवीन चित्र देखकर वह आवाक् रह गयी।

'कौन है इस चित्र का चित्रकार ?' उसने कलहंस को जिज्ञासा से पूछा।

'मेरे स्वामी और कौन ?'

कलहंस का यह उत्तर सुनकर मन्दारिका ने पुनः प्रश्न किया—'परन्तु तुम्हारे स्वामी ने हमारी दीदी का ही चित्र क्यों खींचा ?'

'ठीक उसी कारण से जिस कारण से कि तुम्हारी दीदी ने मेरे स्वामी का चित्र खींचा है, समझ गयी ?'

मन्दारिका यह सुनकर केवल हँस दी और चित्र उठा कर वहाँ से चल दी। उसने वह चित्र मालती एवं लवंगिका दोनों को ही दिखाया। अपना सही चित्र देख कर माधव की चित्रकला पर मालती मुग्ध हो गयी।

जब कामन्दकी दूसरे दिन भूरिवसु के घर पहुँची तब मालती ने उसकी चरणरज लेकर उसका कुशल-समाचार पूछा। बातचीत करते हुए कामन्दकी ने विषादपूर्ण आकृति से यह दुखद समाचार सुनाते हुए, कि अमात्य भूरिवसु ने मालती का विवाह वृद्ध नन्दन के साथ सम्पन्न

करने का निश्चय किया है, कहा—'समस्त नगरवासियों के लिए अब चर्चा का यही एक विषय हो गया है।'

मालती की सहेली लवंगिका ने प्रश्न किया—'किन्तु देवी ! भूरिवसु उस वृद्ध विदूषक के साथ अपनी पुत्री का विवाह क्यों करना चाहते हैं ?'

'कूटनीतिज्ञों की चालों का आभास तक पाना कठीन है। कदाचित् प्रधानामात्य राजा के उस कृपापात्र को अपनी कन्या देकर स्वयं राजा के कृपाभाजन बनना चाहते हों।'

वृद्ध नन्दन के साथ होनेवाले अपने भावी विवाह के समाचार मात्र से मालती काँप उठी। लवंगिका ने कामन्दकी से पूछा—'क्या इस आसन्न संकट से बचने का कोई उपाय है ?'

कामन्दकी ने कहा—'कूटनीति के आगे ये पुरुष अपनी सन्तानों के हित की बलि तक देने में नहीं हिचकिचाते। फिर भी वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो बालिकाओं को प्राचीन काल से ही विवाह-स्वातन्त्र्य का अधिकार प्राप्त है। इतिहास साक्षी है कि शकुन्तला ने स्वेच्छा से दुष्यन्त के साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया। देवयानी-ययाति, वासवदत्ता-उदयन आदि के उदाहरण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।'

भूरिवसु की भी हार्दिक इच्छा यही रही कि माधव के साथ मालती गान्धर्व पद्धति से विवाह कर ले, जिससे एक संकटपूर्ण उत्तरदायित्व से उसको छुटकारा मिल सके। लगभग इसी उद्देश्य से कामन्दकी एवं लवंगिका भी समय-समय पर मालती को सुनाते हुए भूरिवसु की निन्दा करने लग गयी थीं। किन्तु स्वभावतः विनयशील मालती अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य करने के लिए कदापि तैयार न होती थी। इस सारी स्थिति से भली भांति अवगत होने के कारण ही कामन्दकी इस प्रयास में लगी हुई थी कि किसी प्रकार भी मालती का

मन प्रस्तावित विवाह के विरुद्ध हो जाय, अन्यथा नन्दन न तो विशेष वृद्ध था और न निर्धन ही।

उसी मास की कृष्ण-चतुर्दशी के दिन की घटना है। पद्मावती के निकटस्थ शंकर भगवान् के देवालय में दर्शनार्थियों की भारी भीड़ लगी हुई थी। उस दिन अपनी माता के साथ मालती भी इस मन्दिर में पहुँची और संध्या-समय संयोगवश माधव भी देवदर्शनार्थ वहाँ पहुँचा।

अपने मनोरथों की सिद्धि के कारण भगवान् पर चढ़ाने के लिए मन्दिर के आस-पास के वृक्षों के फूल चुन ही रही थी कि कामन्दकी और लवंगिका दोनों ही वहाँ पहुँच गयीं। दोनों ने मालती को अपने पास बिठा लिया और बात-ही-बात में बता दिया कि उसका प्रणय प्राप्त करने के लिए माधव अत्यन्त व्यग्र है।

इधर इन तीनों का पारस्परिक सम्भाषण चल ही रहा था कि उधर एक नया विघ्न उपस्थित हो गया।

शिवालय के आँगन के एक कोने में दो-चार सिंहों एवं कतिपय अन्य हिंस्र पशुओं को पिजड़े में बन्द करके रखा गया था। इनमें से एक पिजड़े का दरवाजा न जाने कैसे खुल गया, जिससे उसके भीतर एक सिंह कूद कर चारों ओर दौड़ने लगा। दो-चार व्यक्तियों को घायल करने के बाद इस सिंह ने मदयन्तिका नामक एक महिला पर आक्रमण किया। कामन्दकी की शिष्या बुद्धिरक्षिता यह समाचार लेकर कामन्दकी के पास पहुँची ही थी कि यह बात वहीं पर उपस्थित माधव के कानों में पड़ी। उसी क्षण उसने घटनास्थल की ओर प्रस्थान किया।

माधव के सखा मकरन्द को जब यह पता चला कि नन्दन के साथ मालती के विवाह का निश्चय हो चुका है, तब वह अपने मित्र के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के निमित्त पहले तो उसके घर पहुँचा और वहाँ यह ज्ञात होने पर, कि माधव मन्दिर में गया है, मकरन्द भी

मन्दिर की ओर चल दिया। वहाँ पहुँच कर उसने देखा कि सिंह मदयन्तिका पर झपटा। मकरन्द ने झट आगे बढ़ कर तलवार के एक वार से सिंह को यमलोक पहुँचा दिया। किन्तु सिंह के साथ हुए संघर्ष में सिंह के पंजों से पहुँची हुई चोट के कारण मकरन्द मूर्च्छित हो गया। इसी बीच माधव भी वहाँ पहुँच गया; किन्तु मरे हुए सिंह एवं संज्ञाशून्य दशा में पास ही पड़े हुए मकरन्द को देखकर वह भी मूर्च्छित हो गया। कुछ ही क्षण बाद मालती, कामन्दकी और बुद्धिरक्षिता भी घटनास्थल पर पहुँच गयीं। इन तीनों के प्रयास से उन दोनों मित्रों ने पुनः चेतना प्राप्त की।

प्रसन्नता के इस प्रसङ्ग पर कामन्दकी माधव को लक्ष्य कर बोली—'चूंकि मालती को ही इसका समस्त श्रेय प्राप्त है, अतः आप उसको कोई अच्छा-सा पुरस्कार प्रदान करें।'

माधव ने उत्तर दिया—'मैं अपना हृदय उसके चरणों में समर्पित कर चुका हूँ!'

जब मकरन्द और माधव सचेत हुए तब कामन्दकी, मदयन्तिका, मालती आदि के साथ उनका वार्तालाप चल ही रहा था कि मदयन्तिका के घर से एक भृत्य यह संदेश ले आया कि माँ जी ने उसे बुलाया है। उसने यह भी कहा कि आज अपराह्ण में पद्मावती-नरेश उनके घर आकर गये और वे मदयन्तिका के भाई के साथ प्रधानामात्य भूरिवसु की कन्या का विवाह-संस्कार सम्पन्न करने का निश्चय कर चुके हैं। आज ही सन्ध्या-समय···की विधि सम्पन्न होगी, अतः वह (मदयन्तिका) शीघ्र घर लौटे।

जब मदयन्तिका बुद्धिरक्षिता को साथ लेकर अपने घर लौटने के लिए तैयार हुई, तब चलने से पूर्व उसने एक बार अपने प्राणरक्षक एवं उपकारी की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से देखा और बुद्धिरक्षिता को

लक्ष्य कर उसने कहा—'सखी, न जाने पुनः कब इनसे मेरी भेंट हो सकेगी।'

बुद्धिरक्षिता ने उत्तर दिया—'यदि भाग्य में बदा होगा, तो अवश्य पुनः भेंट होगी।'

मालती तथा नन्दन के प्रस्तावित विवाह-सम्बन्ध की वार्ता से माधव, मालती एवं मकरन्द को चिन्ताग्रस्त देख कर कामन्दकी उन तीनों को धैर्य देती हुई बोली—'आप इस विषय में निराश न हों। मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर मालती-माधव को विवाह-सूत्र में बाँधकर ही दम लूँगी।'

कामन्दकी के ये उद्‌गार सुन कर मकरन्द बोला—'हमारा यह अहोभाग्य है कि आप जैसी संन्यासिनी, जो वस्तुतः विद्यादान एवं धर्माचरण में ही अपना जीवन न्यौछावर कर देने का संकल्प कर चुकी हैं, हम लोगों की सहायता के लिए कटिबद्ध हैं। यदि इन सारे प्रयत्नों के होते हुए भी सफलता हाथ न लगी तो हम इसे अपना ही दुर्भाग्य समझेंगे।

इतने में भूरिवसु के भृत्य ने आकर सूचना दी कि कामन्दकी मालती को साथ लेकर तुरन्त घर लौट आयें।

वियोग के इस क्षण में माधव एवं मालती के हृदय परस्पर अथाह सहानुभूति की भावना से द्रवित हो गये और इसी दशा में उन्होंने एक-दूसरे से विदा ली।

मालती की सखी मदयन्तिका के साथ कामन्दकी बहुत पहले से परिचित थी। मालती के साथ वह कामन्दकी के शिक्षाश्रम में प्रायः आती-जाती रहती थी। वह मालती की अपेक्षा अधिक वाक्पटु और साहसी भी थी। कामन्दकी भी कभी-कभी नन्दन के घर पहुँच जाती थी।

इन्हीं सब कारणों से मदयन्तिका के प्रति कामन्दकी का विशेष प्रेम-भाव था। उसकी यह स्पष्ट सम्मति थी कि मदयन्तिका के लिए मकरन्द ही सर्वथा उपयुक्त वर है। साथ ही वह यह भी चाहती थी कि नन्दन और प्रधानामात्य भूरिवसु का स्नेह-सम्बन्ध बना रहे एवं उन दोनों के बीच कदापि वैमनस्य पैदा न हो। इसके लिए भी वह मदयन्तिका के साथ मकरन्द के विवाह-संस्कार को ही एकमात्र उत्तम उपाय समझती थी। फलतः वह इसी प्रयत्न में संलग्न रही कि किसी प्रकार उनके मनोरथ पूर्ण हो जायँ।

कामन्दकी की प्रिय शिष्या बुद्धिरक्षिता भी उपर्युक्त कार्य में सहायक सिद्ध हुई। बुद्धिरक्षिता मदयन्तिका की अभिन्नहृदया सखी थी और उसने बातों ही बातों में मदयन्तिका को यह बात जता दी कि किस प्रकार मकरन्द उस पर आकृष्ट हो गया है। मदयन्तिका ने भी अपने मन के भाव व्यक्त करते हुए कहा—'जिस दिन मकरन्द ने सिंह के चुंगुल से उसको छुड़ाकर उसकी प्राण-रक्षा की। उसी दिन से वह मकरन्द पर आकृष्ट हो गयी है।'

इस कथा का आगामी भाग इस देश के एक ऐसे प्राचीन धर्मपन्थ से सम्बद्ध है, जो कापालिक नाम से प्रसिद्ध रहा। इस पन्थ के प्रति लोगों के मन में अत्यन्त भय और तिरस्कार की ही भावना थी। इस पन्थ के लोग मृत मानवों के कपालों या खोपड़ियों की माला बना कर अपने गले में डालते थे और जलपात्र आदि के रूप में इन्हीं खोपड़ियों से जलपात्र का काम लेते थे।

पद्मावती की दक्षिणी सीमा पर नदी किनारे उसी नगर की श्मशान-भूमि थी। इसी श्मशान में देवी का एक जीर्ण-शीर्ण मन्दिर था। कापालिक इस देवी के बड़े भक्त थे। एक समय की घटना है कि अघोरघण्ट नामक एक कापालिक आकर इस देवालय में रहने लगा और शीघ्र ही यह खबर नगर में फैल गयी।

जिस दिन मकरन्द एवं माधव, मालती, मदयन्तिका आदि से विदा लेकर अपने घर लौटे उस दिन की यह घटना है। दो प्रहर रात बीत चुकी थी। माधव को निद्रा नहीं आ रही थी। बार-बार वह करवटें बदलता था। मालती के विना उसको अपना जीवन दूभर एवं नीरस लग रहा था और यही एक बात उसे परेशान कर रही थी। अन्ततः वह शय्या त्याग कर उठा, अपने वस्त्र धारण किये और हाथ में तलवार लेकर नगर की सीमा के पार निकल आया। यद्यपि उसे दूर से ही श्मशान-भूमि में धायँ-धायँ जलनेवाली चिताएँ दिखायी दे रही थीं, फिर भी वह निर्भय आगे बढ़ता ही गया।

उसे ज्ञात था कि श्मशान में निवास करने वाले भूत-प्रेतों को मनुष्य का माँस अत्यन्त प्रिय है, अतः अपना ही माँसखंड यदि उन्हें अर्पित किया जाय तो वे प्रसन्न हो सकते हैं, ऐसा विचार कर वह चिल्ला कर बोला—

'जिस किसी को भी उत्तम मनुष्य-माँस की चाह हो, उसको मैं अपना माँस सहर्ष देने को तैयार हूं।' परन्तु उसे प्रत्युत्तर नहीं मिला। अवश्य ही कपालकुण्डला नामक एक कापालिक-स्त्री ने, जो शीघ्र गति से मन्दिर की ओर जा रही थी, माधव का स्वर पहचान लिया और वह इस चिन्ता में पड़ी कि आखिर किस कार्यसिद्धि के हेतु माधव माँसार्पण के लिए सन्नद्ध हो गया है। समयाभाव में वह इस ओर अधिक ध्यान न दे सकी और मन्दिर की ओर चल दी।

कपालकुण्डला के गुरु अघोरघण्ट ने उसी रात को देवी की वेदी पर एक सुन्दर कुमारिका को बलि चढ़ाने का निश्चय किया था। किसी असाधारण कार्य-सिद्धि के हेतु उसने यह आयोजन किया था और इसके लिए मध्यरात्रि का समय सुनिश्चित हुआ था। कपालकुण्डला को पूजा की समस्त तैयारियाँ करने की आज्ञा देकर वह कुमारिका को लाने के लिए

नगर की ओर गया। कपालकुण्डला पूजा-सामग्री का प्रबन्ध कर मन्दिर की चौखट पर बैठी हुई गुरु की प्रतीक्षा कर रही थी।

अघोरघण्ट आकाश-मार्ग से पद्मावती में पहुँचा और वहाँ उसने भूरिवसु के महल में विशेष चहल-पहल देखी। मध्यरात्रि की प्रतीक्षा में वह वहीं रुक गया और जब सर्वत्र शान्ति प्रस्थापित हुई तब उसने भूरिवसु के महल की छत पर निद्रामग्न मालती को बलिदान योग्य देख कर मन्त्र-शक्ति से उठा लिया और वह श्मशान में स्थित अपने मन्दिर में लौट आया। वहाँ पहुँचने पर जब मालती सचेत हुई तब चारों ओर का दृश्य देखकर वह भयभीत हुई और शब्दोच्चारण तक करने की उसमें शक्ति न रही।

कपालकुण्डला ने मालती की माँग में सिन्दूर भरा, उसके गले में फूलों का हार डाला और देवी के सामने लाकर उसको खड़ा कर दिया। इस सारे आयोजन से मालती सिहर उठी और जोर से चिल्लायी—'ये मेरा बलिदान कर रहे हैं। क्या यहाँ मेरा कोई भी रक्षक नहीं है?'

मन्दिर के पास ही खड़े माधव ने मालती की यह आर्तवाणी सुन ली और किसी अनिष्ट की कल्पना कर वह तुरन्त मन्दिर की ओर लपका। मालती को देवी के सामने खड़ी कर कपालकुण्डला एवं अघोरघण्ट मन्त्रोच्चारण करने में लीन थे। तदनन्तर वे दोनों मालती से बोले—'अब तुम्हारा अन्तकाल समीप आ गया है। जीवन के इस अन्तकाल में जिस किसी का तुम स्मरण करोगी, स्वर्ग में उसी का चिर-सहवास तुम्हें प्राप्त होगा।'

मालती माधव का नाम लेकर विलाप करने लगी। तत्काल अघोर-घण्ट ने अपना खड्ग म्यान से खींचा और मालती की गर्दन जोर से एक ही झटके से वह उड़ाने जा ही रहा था कि उसके ठीक पीछे उपस्थित माधव ने उसका हाथ जोर से पकड़ लिया।

माधव को देखते ही मालती उससे चिपट गयी और वह आर्तस्वर से विलाप करने लगी। जिस प्रकार दुष्ट कापालिक अघोरघण्ट प्रासाद की छत पर से निद्रावस्था में उसको उठा ले आया एवं जिस प्रकार कपाल-कुण्डला के सहयोग से उसने देवी की वेदी पर उसकी बलि चढ़ाने का आयोजन किया आदि बातें उसने रुद्ध गले से माधव को निवेदन कीं। आत्म-निवेदन में माधव ने अपनी निद्राभंग होने के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा कि नैराश्यवश जीवन का अन्त कर डालने के हेतु ही वह इस श्मशान-भूमि में पहुँच गया था।

मालती-माधव का यह सम्भाषण चल ही रहा था कि अघोरघण्ट ने माधव को सचेत करते हुए कहा—'यदि तू अभी श्मशान-भूमि से नहीं चला जाता तो मालती के साथ-साथ तेरी भी बलि चढ़ा दी जायगी। निश्चित भाव से माधव ने अघोरघण्ट को उत्तर दिया—'अब तुम ही मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए तैयार हो जाओ।'

इसी बीच देवालय का सारा प्राङ्गण भूरिवसु के सेवकों से भर गया। राजा के आदेश से वे सब मशालें हाथ में लेकर मालती को ढूँढ़ते हुए यहाँ पहुँच गये थे। माधव ने मालती को इन सेवकों के अधिकार में किया और स्वयं अघोरघण्ट पर टूट पड़ा। कुछ देर तक उन दोनों में भीषण संघर्ष हुआ, परन्तु अन्ततः माधव ने कापालिक अघोरघण्ट को यम-सदन भेज दिया।

क्रूर कापालिक से मालती को मुक्त करने के उपलक्ष्य में भूरिवसु मालती का विवाह मेरे साथ ससम्मान सम्पन्न कर देगा, यह जो आशा माधव को थी, उस पर हिमपात हो गया। आशा के विपरीत आकस्मिक रूप से उपस्थित उक्त विघ्न के बाद तो नन्दन के साथ मालती के पाणिग्रहण की तिथि निश्चित की गयी। गोधूलि के शुभ मुहूर्त में विवाह-संस्कार सम्पन्न होने वाला था। इससे पूर्व नन्दन-परिवार की

कुल–परम्परा के अनुसार, उक्त परिवार की कुलदेवी के दर्शनार्थ एवं वहीं नये वस्त्रालंकार धारण करने के हेतु, सन्ध्या के पाँच बजे मालती तथा उसके घर के सभी लोग गाजे-बाजे के साथ मन्दिर में पधारे।

यद्यपि मालती माता-पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन कर रही थी, तथापि वह इस विवाह के विषय में अत्यन्त निराश हो चुकी थी। अतएव जब सखी लवंगिका ने उससे वस्त्रालंकार धारण कर देवी की पूजा करने के लिए कहा, तब वह निराशापूर्ण स्वर में बोली—'ये समस्त वस्तुएँ मुझे तापदायक प्रतीत हो रही हैं।'

'इस शुभ अवसर पर मुँह से अशुभ बात निकलना उचित नहीं है' यह कहकर लवंगिका ने उसे चुप कर दिया।

कामन्दकी को मालती के मन्दिर में आने की सूचना तो थी ही और भूरिवसु की स्वीकृति से उसने इस अवसर से लाभ उठा कर अपने लक्ष्य की पूर्ति का पूर्ण निश्चय कर लिया था। तदनुसार मन्दिर में मालती के आने से कुछ ही समय पूर्व माधव, मकरन्द एवं उनका विश्वासपात्र सेवक कलहंस प्रच्छन्न रूप से वहाँ पहुँच कर एक खम्भे की आड में छिप गये। वे तीनों मालती एवं लवंगिका का संवाद सुन चुके थे और मालती की साश्रु आँखें भी उन्होंने देख ली थीं। मन्दिर के अन्तर्गृह में अन्धकार था और मालती लवंगिका के चरण पकड़कर उससे अनुनय कर रही थी कि मृत्यु का वरण करने के उसके मार्ग में बाधा न डाले। उसी क्षण लवंगिका से संकेत पाकर माधव आगे बढ़ा और लवंगिका वहाँ से दूर हट गयी। इस ओर मालती का ध्यान न होने के कारण उसने अनभिज्ञतापूर्वक माधव को ही लवंगिका मान कर अपने हाथों में पकड़ी हुई बकुल-पुष्पों की माला इन शब्दों के साथ पहना दी कि 'मृत्यु का आलिंगन करने से पूर्व मैं तुमसे मिल

लेना चाहती हूँ। इससे मुझे मृत्यु के समय सुख और शान्ति प्राप्त होगी।'

अश्रुपूर्ण नेत्रों के कारण मालती यह देख ही न पायी कि उसके सामने लवंगिका नहीं, माधव ही खड़ा है। माधव को ही अपनी सखी समझ कर उस पर चिपट कर वह बोली—'आज तुम्हारा यह स्पर्श भी मुझे असाधारण प्रतीत हो रहा है। मेरी यही अन्तिम अभिलाषा थी और वह यही कि माधव के साथ मेरा मिलन हो जाय······।'

अपना वाक्य वह पूरा भी न कर पायी थी कि उसकी और माधव की आँखें मिल गयीं। वह समझ गयी कि यह सब लवंगिका की ही चालाकी है।

माधव के इस दुस्साहसपूर्ण कार्य से भयभीत मालती को धीरज बँधाते हुए कामन्दकी ने इस नवदम्पती को अपना शुभाशीर्वाद दिया और उनसे कहा कि उनके विवाह की शेष विधि उसके आश्रम में पूर्ण कराने की व्यवस्था की गयी है। साथ ही घटनास्थल पर उपस्थित मकरन्द से उसने कहा—'नन्दन ने मालती के लिए जो बहुमूल्य वस्त्र एवं अलंकार भेजे हैं उन सबको तुम पहन लो।' तदनुसार स्त्री-वेशधारी मकरन्द शीघ्र ही मालती के रूप में बदल गया और इसी वेशभूषा में वह नन्दन के घर विवाहार्थ पहुँच गया। नन्दनपरिवार मन्दिरवाली घटना से सर्वथा अपरिचित था। साथ ही जबरदस्ती के इस विवाह की समस्त विधि गुप्तरूप से पूरी कर डालने का जो निश्चय किया गया था उसके कारण उपस्थिति भी अधिक नहीं थी। चूंकि कृत्रिम मालती के साथ लवंगिका एवं बुद्धिरक्षिता भी नन्दन के घर आ गयी थीं, इसी कारण जो षड़यन्त्र रचा गया था उसका किसी को आभास तक नहीं मिल सका।

'मेरे प्रति मालती के हृदय में जरा भी प्रेमभाव नहीं है' यह तथ्य नन्दन को ज्ञात था। फिर भी उसका विचार था कि विवाह के बाद सब

कुछ ठीक हो जायगा। इसी प्रयोजन से विवाह की पूर्व रात्रि में वह मालती के कक्ष में जा पहुँचा। पहले तो नन्दन ने उसको लक्ष्य कर मीठी-मीठी बातें कहीं, और जब देखा कि वह टस से मस नहीं हो रही है तब उसके कुल-शील पर लाँच्छन लगाना आरम्भ किया। सुनते ही कृत्रिम मालती ने उसे एक जोर का धक्का दिया जिससे वह दूर जाकर गिरा। इस तिरस्कार से यद्यपि वह क्रोधावेश में आगया था तथापि उसने यह बात किसी से नहीं कही। कमरे से बाहर आकर उसने केवल अपनी भगिनी मदयन्तिका से इतना ही कहा—'मेरे प्रति मालती का व्यवहार आज जरा भी अच्छा नहीं रहा।'

मालती को खरी-खोटी सुनाने के उद्देश्य से ज्यों ही वह मालती के कमरे में पहुँची त्यों ही वहाँ उपस्थित लवंगिका तथा बुद्धि-रक्षिता ने संकेत से ही उसे आवाज न करने की सम्मति देते हुए कहा कि मालती का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, अतः उसको शान्तिपूर्वक विश्राम करने दीजिए।

मध्यरात्रि का समय था। ये तीनों सखियाँ कामन्दकी के आश्रम की ओर मकरन्द के साथ प्रस्थान कर गयीं। किन्तु रास्ते में उन्हें एक और बाधा का सामना करना पड़ा। नगर में गश्त लगाने वाले रक्षियों ने इनका रास्ता रोक रखा। इन रक्षियों के साथ मकरन्द का पहले तो शाब्दिक और फिर सशस्त्र संघर्ष हुआ। आश्रम में इस संघर्ष की सूचना पहुँचते ही माधव अपने मित्र की सहायता के लिए भागा। इस संघर्ष में विजय प्राप्त कर सब लोग जब आश्रम लौटे तब उन्हें एक अत्यन्त दुःखद घटना की सूचना मिली कि मालती न जाने कहाँ चली गयी।

वस्तुतः यह उस कपालकुण्डला का ही कुकर्म था, जो अपने गुरु अघोरघण्ट की माधव द्वारा की गयी हत्या को भूली नहीं थी और उसी हत्या का बदला लेने के ही लिए मालती को आश्रम में एकाकी पाकर वह उड़ा ले गयी थी। इस प्रकार सहसा मालती के अदृश्य हो जाने

के कारण माधव, मकरन्द आदि सभी आश्रमवासी दुःख से व्याकुल हो गये। रंग में भंग करने वाली इस घटना ने सब को व्यथित किया। उनके लिए अपना जीवन असह्य हो उठा। लगभग यही स्थिति मालती के माता-पिता की हुई। उधर कपालकुण्डला ने मालती को मारने के लिए समस्त तैयारियाँ कर लीं। एक ऊँचे शिखर से वह मालती को नीचे ढकेलने जा रही थी कि उसे मृत्यु के मुँह से छुड़ा लिया गया। पश्चात् तपश्विनी ने मालती से उसके परिवार की आद्योपान्त जानकारी प्राप्त कर उनके पारस्परिक मिलन में सहायता पहुँचायी।

वह शुभ दिन भी आ ही गया जब मालती-माधव और मदयन्तिका-मकरन्द विवाह-सूत्र में एक-दूसरे से बंध गये। अनेक वर्षों के उपरान्त इसी शुभ अवसर पर देवरात, भूरिवसु, कामन्दकी और सौदामिनी की भी परस्पर भेंट हुई और तब इस बात की याद करके कि वर्षों पूर्व उन्होंने पद्मावती के विद्यालय से विदा होते समय जो प्रतिज्ञा की थी कि वे अपने पुत्र-पुत्री को विवाह-सूत्र में बाँध कर अपने विद्यालय के स्नेह सम्बन्धों को पूर्ववत् बनाये रखेंगे, उस प्रतिज्ञा की पूर्ति होते देखकर सब की आशाभरी आँखों से आनन्दाश्रु बरसने लगे।



माधव ने मालती को मृत्यु के मुँह से छुड़ा लिया (पृ. ११०)

महाकवि-भारवि

संक्षिप्त परिचय

विद्वत् शिरोमणि भारवि संस्कृत साहित्य के एक प्रसिद्ध महाकवि हैं। कवियों की गणना में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी रचना-शैली अत्यन्त मनोहर और अर्थगौरव से पूर्ण है। जो आज भी 'भारवेरर्थगौरवम्' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। महाकवि भारवि याचना-कार्य को अत्यन्त घृणित दृष्टि से देखते थे। महाकवि के प्राकृतिक वर्णन अतीव चमत्कारजनक हैं। आपने प्रत्येक प्राकृतिक वर्णन की पूरी नैसर्गिकता का प्रदर्शन करने के लिए प्राकृतिक वस्तुओं का सुन्दर चित्रण किया है। आपके सर्वतोभद्र आदि चित्र-काव्य और श्लेषात्मक एकाक्षर द्व्यक्षर आदि श्लोक अतीव सुन्दर हैं।

यद्यपि महाकवि भारवि का समय निर्णय करना कठिन है तथापि प्राप्त लेखों के आधार पर उनका काल-निर्णय किया जाता है। एहोल शिलालेख में रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि का उल्लेख किया है। इस शिलालेख का समय ६३४ ई० है। आज भी यह शिलालेख 'एहोल' ग्राम के जैन विहार में मिलता है। इस शिलालेख के आधार पर भारवि का समय षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध मानना ही उचित होगा। सन् १९१४ में के० रामनाथ शास्त्री तथा रामकृष्ण कवि के द्वारा दक्षिण भारती ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में प्रकाशित दण्डी कवि-प्रणीत 'अवन्ति सुन्दरी कथासार' में लिखा है कि भारवि अचलपुर के निवासी और कौशिक गोत्रोत्पन्न नारायण स्वामी के पुत्र थे।

महाकवि का एक नाम दामोदर भी था। आप दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और महाराज विष्णुवर्द्धन के सभापण्डित थे। परन्तु अभी तक समस्त विद्वानों ने इसे मान्यता नहीं दी है। बहुतों का मत है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और दण्डी के चतुर्थ पूर्वज दामोदर से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी तथा वे दक्षिण भारत के चालुक्य वंशी महाराज विष्णुवर्द्धन के सभापण्डित थे।

महाकवि-भारवि-रचित

किरातार्जुनीय-कथासार

धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्रह्मचारी वेशधारी एक वनवासी को कुरुदेश के स्वामी दुर्योधन के प्रजापालन सम्बन्धी समाचार की जिज्ञासा से उसके पास भेजा था। वह द्वैतवन में महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। महाराज को प्रणाम करके जब शत्रु द्वारा विजित राज्य की वार्ता सुनाने लगा तब वह दूत डरा नहीं। हितैषी सेवक कभी भी केवल स्वामी को प्रसन्न रखने के लिए प्रिय, किन्तु असत्य बात नहीं कहते, क्योंकि महाराज शत्रुओं के नाश का उपाय करना चाहते हैं, अतः दूत ने एकान्त में महाराज की अनुमति प्राप्त करके सुन्दरता और उदारता से पूर्ण, स्पष्ट अर्थवाली वाणी में इस प्रकार निवेदन किया—

'हे महाराज, दूत लोग राजाओं के चक्षु हैं, इस कारण दूतों का धर्म है कि वे अपने स्वामियों को धोखे में न रखें। मृदु या कटु जैसी भी सच्ची बात कहूँ, उसे क्षमा कीजियेगा। ऐसी वाणी जो हितकर भी हो और मधुर भी हो, बहुत दुर्लभ है। जो अनुचर स्वामी को ठीक सलाह न दे, उसे दुष्ट मित्र जानना चाहिए और जो स्वामी भले की बात को ध्यान से न सुने, वह भी निन्दनीय है। जो राजा और मन्त्री परस्पर एक मत होकर चलते हैं, उनमें सदा सम्पत्ति का निवास होता है। कहाँ राजाओं के स्वभावतः दुर्बोध कार्य और कहाँ मेरे जैसे अज्ञानी व्यक्ति! तथापि मैं शत्रुओं की नीति के रहस्य को समझ सका, यह महाराज के ही सामर्थ्य का फल है।

'महाराज, आप वन में निवास कर रहे हैं और दुर्योधन राज-सिंहासन पर बैठा हुआ है। तो भी उसे भय है कि वह आपसे पराजित हो जायगा। इस कारण जिस पृथ्वी को उसने आपसे द्यूत के छल से

जीता है, उसे अब नीति से जीतने का यत्न कर रहा है। आप पर विजय प्राप्त करने के लिए वह कपटी औदार्य आदि गुण दिखाकर अपने यश का जाल चारों ओर फैला रहा है। सच है, अनार्यों की मित्रता की अपेक्षा आर्यों के प्रति ऐसी प्रतिस्पर्धा कहीं अच्छी है, जो मनुष्य को उन्नत करने वाली हो। मनु भगवान् ने राजा के लिए शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की जिन क्रोधादि छः अत्यन्त दुर्गम राजनीतियों का उपदेश दिया है, उनकी पूर्ति के लिए दुर्योधन आलस्य को छोड़ कर और रात तथा दिन का उचित विभाजन करके निरन्तर प्रजा-पालन के प्रयत्न में लगा हुआ है।

'उसका सबके साथ विनय का व्यवहार है। सेवकों के साथ उसका मित्रों का सा वर्ताव है, मित्रों के साथ बन्धुओं का सा व्यवहार है और सम्बन्धियों को ऐसा अनुभव कराता है मानो शासन का प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में हो।' राजा के क्रोध और पुरुषार्थ को उत्तेजित करने के लिए द्रौपदी ने कहा—'शान्ति का परित्याग करके दुश्मनों के नाश के लिए कटिबद्ध हो जाइए।'

'दुर्योधन, धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की आसक्तिपूर्वक, समान रूप से आराधना करता है। ये तीनों मानों उसके गुणों से अनुरक्त होकर परस्पर मित्र भाव से उसमें निहित हैं। उसका सच्चा प्रेम सदा दान से सुशोभित होता है, उसका मुक्तकण्ठ से किया हुआ दान श्रद्धा और सत्कार से विभूषित होता है और वह सत्कार का पात्र उन्हीं को बनाता है जो सत्पात्र और गुणी हों। धन के लोभ से या क्रोध से राजदण्ड का प्रयोग नहीं करता। वह न्यायाधीश द्वारा निर्दिष्ट आदेश से शत्रु एवं पुत्र जो भी राजनियम का भंग करे समान रूप से दण्ड का प्रयोग करता है। अनेक सामन्तों के रथों और अश्वों से भरे हुए उसके सभामण्डप के आँगन को दूर देशों से आये हुए नरेशों की भेंट के

भार से लदे हुए मस्त हाथियों का सप्तपर्ण पुष्पों के सदृश गन्धवाला मद सिक्त करता है। इस सुप्रबन्ध और तेज का फल यह है कि कुरुदेश की वे अदेवमातृका भूमियाँ भी, जिनका आधार केवल वृष्टि ही है, नहरों और नालों की सहायता से कृषकों को अनायास अन्न देकर उन पर मंगल की वृष्टि कर रही हैं। उसकी कीर्ति चारों ओर फैल रही है और वह दयावान् है। अपने सुप्रबन्ध से उसने सब प्रकार के विघ्नों को दूर कर दिया है। इन गुणों से प्रसन्न होकर रत्नगर्भा मानो स्वयं ही उस पर रत्नों की वर्षा कर रही है। उसके धन से सम्मानित होकर महाबली, मानी और युद्धों में यश प्राप्त करने वाले धनुर्धारी वीर केवल उसके प्रति भक्ति की एकान्त भावना से प्रेरित होकर प्राणपण से उसका हित करने के लिए उद्यत हैं। अपने सुव्यवस्थित राज्य की रक्षा का कार्य उसने यौवन के मद में मस्त दुःशासन पर छोड़ दिया है और स्वयं योग्य पुरोहित की अनुमति से यज्ञों में चित्त लगा दिया है। हे महाराज! दुर्योधन के समुद्र पर्यन्त फैले हुए एकच्छत्र राज्य में सब सामन्त लोग सहर्ष उसके अधीन हो गये हैं, परन्तु दुर्योधन उस साम्राज्य पर भली प्रकार शासन करता हुआ भी चिन्ताकुल रहता है; क्योंकि उसे आप लोगों द्वारा आने वाले संकट का सदैव ध्यान बना रहता है। ठीक भी है कि बलवान् से विरोध करने का फल कभी अच्छा नहीं होता। जैसे गरुड़ का स्मरण आने से सर्प सिहर उठता है, वैसे ही आपका नाम लिये जाने पर दुर्योधन को वीर अर्जुन का ध्यान आ जाता है और वह चिन्तित हो उठता है।

आप न्यायपरायण और नीति-मर्मज्ञ हैं। स्वयं जानते हैं कि किस दशा में क्या कर्त्तव्य है? मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति दूसरों के वचनों का वर्णन करने वाले आपको क्या परामर्श दे सकते हैं। महाराज, दुर्योधन आपका अमंगल करना चाहता है, आप उसका जो उचित उपाय समझें, करें।'

जब यह समाचार सुना कर और पारितोषिक प्राप्त करके वनवासी दूत चला गया, तब महाराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी के भवन में जाकर उसे तथा भाइयों को दूत की कही हुई सब बातें सुना दीं।

द्रौपदी को कौरवों की सफलता के समाचार सुन कर उनके द्वारा की गयी सब तिरस्कारपूर्ण बातें स्मरण हो आयीं। वे उसके लिए असह्य हो उठे। वह महाराज युधिष्ठिर के क्रोध और पुरुषार्थ को उत्तेजना देने के लिए इस प्रकार कहने लगी—

'निःसन्देह यह धृष्टता की सीमा है कि आप जैसे राजनीतिज्ञ पण्डित को एक स्त्री उपदेश करे तथापि हम पर जो विपदाएँ पड़ी हैं उन्होंने नारीत्व की सीमाओं को तोड़ दिया है, अतः मुझे कुछ कहने को वाध्य होना पड़ा है। जैसे प्रमत्त हाथी मस्तक पर पड़ी हुई पुष्पमाला को उठा कर फेंक देता है, हे राजन्! उसी प्रकार तुमने देवेन्द्र के समान तेजस्वी पूर्व पुरुषों द्वारा प्रतिपालित यह विशाल राज्य अपने हाथों से शत्रुओं को अर्पित कर दिया। नीतिज्ञों का सिद्धान्त है कि जो मूर्ख मनुष्य छलियों के छल का प्रतिकार छल से नहीं करते वे जीवन संग्राम में परास्त होते हैं। जैसे कवचहीन शरीर में शत्रु के बाण घातक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार दुष्ट लोग असावधान व्यक्तियों का नाश कर देते हैं।

आप साधन-सम्पन्न थे और राज्यलक्ष्मी आपके गुणों पर अनुरक्त थी, आप क्षत्रिय कुल के अभिमानी थे और इसी कारण राज्यलक्ष्मी आपको कुलक्रम में प्राप्त हुई थी। ऐसी सती स्त्री के समान राज्यलक्ष्मी को आपके अतिरिक्त कौन व्यक्ति होगा जो स्वयं ही दूसरे के हाथों में सौंप दे? आश्चर्य की बात यह है कि मनस्वियों द्वारा निश्चित इस पद्धति पर चलते हुए आपको शुष्क शमी वृक्ष में लगी अग्नि की भाँति क्रोध जला क्यों नहीं डालता? जिस व्यक्ति का कोप निरर्थक नहीं जाता, उसकी आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और प्रजा वश में आ जाती

है, परन्तु जिस मनुष्य को अपमानित होकर भी क्रोध नहीं आता, उससे न मित्र सम्मानित होकर प्रसन्न होते हैं और न शत्रु उससे भयभीत ही होते हैं ?

'क्या वह भीमसेन जो रक्तचन्दन का लेप कराने का अभ्यासी था, आज पहाड़ों में धूल भरे पाँवों से पैदल घूम रहा है, आपके चित्त को दुःखित नहीं करता ? उत्तर कुरुदेश को जीत कर इन्द्र के समान ओजस्वी जिस अर्जुन ने बहुमूल्य रत्नों की भेंट आपके चरणों में रखी थी, वह जब वृक्षों की छाल के वस्त्र लाकर आपके सामने रखता है, तब क्या आपके हृदय में क्रोधाग्नि प्रज्वलित नहीं होती ? आपके साहस की पराकाष्ठा है कि धृति और संयम के समान युगल नकुल और सहदेव का भूमि पर सोने के कारण कठिन शरीर हो गया है और उनके विकीर्ण केश हैं और उन्हें पहाड़ी हाथियों की तरह घूमते देख कर भी आपका हृदय विदीर्ण नहीं होता ?

'निःसन्देह मानव की चित्तवृत्तियाँ भिन्न रूप की होती हैं। मैं आपकी चित्तवृत्ति को समझने में सर्वथा अशक्त हूँ। जब आप पर पड़ी हुई आपत्तियों का चिन्तन करती हूँ, तब मेरे हृदयाकाश पर चिन्ताओं के बादल मँडराने लगते हैं। आपका जो शरीर ब्राह्मणों के उच्छिष्ट अन्न के भोजन से अत्यन्त सुन्दर दिखाई दिया करता था, वह आज जंगल के फल खाकर निर्वाह करने के कारण यश के साथ ही साथ कृश हो गया है। आपके मणिपीठ पर विश्राम करने वाले जिन चरणों को सामन्त राजाओं के उज्ज्वल मुकुटों की किरणें अलङ्कृत किया करती थीं, वे आज हिरणों और तपस्वियों द्वारा काटे हुए, कुशों से आवृत्त वनों में विचरण करते हैं। अत्यन्त दुःख की बात तो यह है कि आपकी इस दयनीय दशा के कारण आपके शत्रु ही हैं। जिस संकट के कारण शत्रु लोग न हों, मानी पुरुषों के लिए वह भी एक शुभ अवसर है। अतः

महाराज, शान्ति का परित्याग करके शत्रुओं के नाश के लिए कटिबद्ध हो जाइए। शान्ति-शस्त्र से शत्रुओं को पराजित करना मुनियों का काम है, हम क्षत्रियों का नहीं।

यदि शत्रुओं से इस बुरी तरह तिरस्कृत होकर आप जैसे यशोधन लोग भी निश्चिन्त और निर्भय होकर बैठ सकते हैं तो समझना चाहिए कि मनुष्यता का सर्वनाश हो गया है और यदि आपने पराक्रम को छोड़कर क्षमा को ही सुख का साधन मान लिया है तो फिर राजाओं के चिह्न इस धनुष का परित्याग करके जटाधारी बन जायँगे और जंगल में रात-दिन हवन किया करेंगे। दुष्ट शत्रु हमें हर प्रकार से हानि पहुँचाने के यत्न में लगे हुए हैं। उनके साथ तेरह वर्षों के वनवास की प्रतिज्ञा का पालन करना अनुचित है। विजय की इच्छा रखने वाले नरपाल कपटी शत्रुओं के साथ संधि और विग्रह की शर्तें निश्चित करते हुए सदा ऐसा छिद्र रख लेते हैं कि विशेष परिस्थिति आने पर उसे तोड़ा जा सके।

'महाराज मैं चाहती हूँ कि भाग्य और प्रतिज्ञा के प्रभाव से आपकी जो दिवाकर-सदृश लक्ष्मी दीप्तिविहीन होकर अतल समुद्र में लुप्त हो गयी है, वह शत्रुरूपी अन्धकार के नष्ट हो जाने पर पुनः उसी प्रकार प्राप्त हो जाय, जैसे सूर्य को प्रातःलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।'

जिस प्रकार पूर्व दिशा के सम्पर्क से सूर्य की आभा शतगुण हो उठती है, उसी प्रकार द्रुपदसुता के अनुभूत तिरस्कारों की याद दिलाने वाले वाक्यों को सुनकर वीर अर्जुन की आकृति क्षात्रतेज से प्रज्वलित हो उठी। जब पुरोहित ने अर्जुन के शरीर पर अस्त्र-शस्त्र सजाये, तब शत्रुओं को अन्तर्दृष्टि में सामने खड़ा देख कर उसके सुन्दर चेहरे पर भयानकता-सी खेलने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे शान्तिदायक मंत्र का प्रयोग विनाशकारी योजना के लिए किया गया हो। अर्जुन ने

शरीर पर नक्षत्र-जटित आकाश के समान चमकने वाले कवच, हाथों में शत्रुओं द्वारा अजेय गांडीव धनुष और पीठ पर ऐसे दो तूणीरों को, जिन्हें कभी रण में पीठ न दिखाने के कारण किसी क्षत्रिय योद्धा ने देखा ही नहीं था, धारण किया। तत्पश्चात् अर्जुन ने जब यक्ष द्वारा प्रदर्शित मार्ग से हिमालय की ओर जाने के लिए पग उठाया तो तपस्वियों ने अश्रुपूर्ण नयनों के मार्ग से उन्हें अपने हृदय में प्रतिष्ठापित किया।

उस समय दिशाएँ दुन्दुभि-वादन से गूँज उठीं। आकाश में देवताओं ने फूल बरसाये जिनसे वह अर्जुन शरद् ऋतु की सुहावनी छटा को देखता हुआ यक्ष के पीछे-पीछे हिमालय की ओर अग्रसर हुआ। ग्रामों के समीप से जाते हुए जब राजपुत्र की दृष्टि धान-पूरित खेतों के शोभायमान, पङ्क रहित कमल वाले तड़ाग-युक्त स्थलों पर पड़ी तो शरद् ऋतु के उस ऐश्वर्य को देख कर वह बहुत आनन्दित हुआ। जलाशयों के शुद्ध जल में फुरफुराती मछलियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो अपने कमल-नयनों से देखने वाले प्रेमी जल को सन्तुष्ट कर रही हों। खेतों से जाते हुए उसे धान की रक्षिकाएँ दिखाई दीं। उनके कानों के कपोलस्पर्शी फूलों की चंचल पाँखें मुख की शोभा बढ़ा रही थीं।

गोपों के घरों में जब पांडुपुत्र की दृष्टि दही बिलोती हुई ग्वालिनों पर पड़ी तब वह मानो वहाँ गड़ गयी। दधि-मन्थन के समय ग्वालिनों के मुख-कमलों के चारों ओर फैले हुए केश, भौंरों की शोभा दिखा रहे थे। कानों में झूमते हुए कुंडलों की किरणें सूर्य की प्रातःकाल की आभा का अनुकरण कर रही थीं। दधि-मन्थन के समय बँध कर वेग से चलने वाले साँस के सम्पर्क से उनके होंठ हिलते थे उस समय ऐसा लग रहा था मानो किसी लता का एक ही पत्ता हिल रहा है। ग्वालिनों की ये चेष्टाएँ नर्तकियों के नृत्य के सदृश आकर्षक थीं।

वर्षा समाप्त हो जाने के कारण स्पष्ट और पंकरहित मार्गों से होता हुआ और गाँवों के समीप वानप्रस्थाश्रमों के मंडप-सदृश पुष्पाच्छन्न वृक्षों के कुंजों (झुरमुटों) को देखता हुआ अर्जुन, यक्ष के पीछे-पीछे हिमालय की उपत्यका (तलहटी) तक पहुँच गया। वहाँ से आँख उठा कर जो देखा तो पांडुपुत्र (अर्जुन) को हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ दिखाई दीं, जिन्होंने जल बरस जाने के कारण श्वेत मेघों की भाँति सूर्यमंडल को ढक रखा था। हिमालय का अधोभाग काली-काली घनी वन-पंक्तियों से घिरा था और चोटियों पर अत्यन्त श्वेत हिम छाया हुआ था। उस शोभा को देखकर अर्जुन को काला धौत-वस्त्र धारण किये हुए श्वेतवर्ण हलायुध की याद आयी।

विजय की कामना से प्रेरित तृतीय पांडव तीव्र गति से हिमालय पर चढ़ने लगा। उसकी गति को देख कर मन में यह प्रश्न उठता था कि यह वीर मेरु पर्वत को जीतने जा रहा है या दसों दिशाओं का अन्त देखना चाहता है? अथवा आकाश को ही लाँघ जाने की महत्त्वाकांक्षा रखता है? अर्जुन को आश्चर्य और उत्सुकता से हिमालय की शोभा का आनन्द लूटते देखकर पथदर्शक यक्ष कहने लगा—

'हे पांडुपुत्र, इस पर्वतराज की हिमाच्छादित ऊँची चोटियाँ आकाश को सहस्रों टुकड़ों में बाँटती हुई-सी लगती हैं। इसकी महिमा का इतना प्रभाव है कि इसका दर्शन ही पापों और कष्टों का अन्त करने के लिए पर्याप्त है। ये जो सुन्दर पल्लवों और पुष्पों से सुशोभित लतागृह और कमलों से सुसज्जित झीलें हैं, इनकी विमोहकता पति-वियुक्ता अबलाओं को बेचैन कर देती है।'

'भगवती पार्वती के इस स्थान हिमालय पर्वत की तुलना तीनों लोक नहीं कर सकते। क्योंकि सर्वसाधारण की दृष्टियों से बचकर स्वयं भगवान् शंकर यहाँ तपस्या करते हैं। जो मुमुक्षु लोग जन्म और जरा

के बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मपद को प्राप्त करना चाहते हैं, वे इसी पर्वत की गुफाओं में आकर अन्धकार-नाशक ज्ञानरूपी प्रकाश प्राप्त करते हैं। त्रिलोकीनाथ भगवान् शंकर ने इसी महागिरि के शिखर पर भगवती पार्वती का पाणि-ग्रहण किया था। इसकी चोटियों पर चमकती हुई मणियों की किरणों से मिलकर सूर्य की किरणें अपनी नियत संख्या का अतिक्रमण कर जाती हैं। इसकी कन्दराओं और शिखरों पर लहराती हुई लता-वृक्षों की नवीनता कभी नष्ट नहीं होती और कमलिनियों के पत्र कभी सफेद नहीं पड़ते। यहाँ के अद्भुत और सुन्दर पुष्पों से सुशोभित वृक्षों के पत्ते कभी मुरझाते नहीं।'

इस प्रकार हिमालय की शोभा को निहारते और उसकी चर्चा करते हुए यक्ष और पांडुपुत्र तपोभूमि में पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर यक्ष ने अर्जुन से कहा—

'तुम किसी को हानि नहीं पहुँचाओगे, तो भी मुनि के आदेश के अनुसार अत्यन्त सतर्क होकर क्षात्रधर्म का पालन करते समय इस तपोभूमि में तप करते हुए ध्यान रखना कि चाहे शुभ कर्म कैसी ही शांत भावना से किये जाँय, उनकी पूर्ति बाधाओं को हटाये विना कठिन हो जाती है। मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हारे इन्द्रियरूपी अश्व कुपथगामी न हों। भगवान् शंकर तुम्हें मंगलकारी मार्ग में प्रवृत्त करें और लोकपाल तुम्हारे तप को अधिकाधिक फलदायक बनायें।'

जब आशीर्वाद देकर यक्ष अदृश्य हो गया तो अर्जुन खिन्न मन-सा होकर देर तक उसी का ध्यान करते रहे। सत्पुरुषों का वियोग कष्टदायक होना स्वाभाविक ही है।

जब देवराज इन्द्र ने अप्सराओं के मुख से नैसर्गिक जितेन्द्रियता के विषय में सुना तो उनके मन में बहुत प्रसन्नता हुई। देवेन्द्र ने वृद्ध मुनि का रूप धारण किया और तपोवन में जा पहुँचे। अर्जुन ने

लम्बी यात्रा के कारण थके हुए वृद्ध मुनि को देखकर सविनय प्रणाम किया। पुत्र से अतिथि के योग्य सत्कार पाकर और आसन पर कुछ समय विश्राम करके इन्द्र ने अर्जुन से कहा—

'वत्स, तुमने इस छोटी अवस्था में ही तपश्चर्या आरम्भ कर दी, यह बहुत ही अच्छा किया। विषय इतने बलवान् हैं कि मेरे जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति को भी मार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। तुम्हारा जैसा सुन्दर रूप है, वैसे ही तुममें उत्तम गुण भी हैं। इस संसार में सुन्दरता सुलभ है, परन्तु गुणवान् होना दुर्लभ है। उस पर भी संकट यह है कि इस दुःखमय जीवन के मार्ग में मृत्यु खड़ी रहती है, इस प्रकार आदि, अन्त और मध्य में दुःखमय संसार से खिन्न होकर विवेकी मनुष्य ही मुक्ति की खोज में रहता है।'

इन्द्र इतना कहकर चुप हो गया। तब अर्जुन ने विनीत एवं गम्भीर स्वर में कहा—

'भगवन ! आपने प्रसन्न होते हुए भी ओजस्वी, सार्थक होते हुए भी संक्षिप्त, साभिप्राय होते हुए भी परिपूर्ण और न्यायानुकूल वाक्यों द्वारा मुझे सदुपदेश दिया, यह आप जैसे विवेकी और सदाशय सत्पुरुष के अतिरिक्त कौन दे सकता था ? खेद इतना ही है कि आपको मेरी तपस्या का कारण ज्ञात नहीं है। तभी हे पिता, आप मुझे मुनियों के योग्य धर्म का उपदेश देना चाहते हैं। मैं क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मैं पाण्डुपुत्र पार्थ अर्जुन हूँ और शत्रुओं द्वारा पराजित अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर के आदेश से तप कर रहा हूँ। मुनि कृष्णद्वैपायन की प्रेरणा से अपने आराध्यदेव देवराज को सन्तुष्ट करने के लिए मैंने यह व्रत धारण किया है। मैंने शत्रुओं के नाश का भार

अपने ऊपर लिया है और मैं अपने सत्यनिष्ठ भ्राता महाराज युधिष्ठिर का वशवर्ती हूँ।

संक्षेप में कहता हूँ। भगवन्, मेरा यह दृढ़ संकल्प है कि इस पर्वत के शिखर पर या तो बिखरे हुए बादलों की तरह विलीन हो जाऊँगा अथवा अपने आराध्यदेव देवराज को तप द्वारा सन्तुष्ट करके अपयश से मुक्ति दिलाने वाले शस्त्रास्त्र प्राप्त करूँगा।'

अर्जुन के मुख से ऐसे वीरवाक्य सुनकर देवराज का रोम-रोम प्रफुल्ल हो उठा। वे अपने असली रूप में प्रकट हुए और अर्जुन से लिपट कर कहने लगे—'हे वत्स, यदि तू पूर्ण सफलता चाहता है तो पाप-नाशक भगवान् शंकर की आराधना कर। जब वे संतुष्ट एवं प्रसन्न हो जायेंगे तब मैं और अन्य लोकपाल सब मिलकर तुझे दिव्य शस्त्रास्त्र देंगे, जिससे तू तीनों लोकों में अजेय हो जायगा और शत्रुओं को छोड़कर राज्यलक्ष्मी तेरे गले में जयमाल पहना देगी।' यह कहकर देवेन्द्र अदृश्य हो गये।

इन्द्र का आदेश पाकर अर्जुन ने शंकर की आराधना के लिए विधिवत् तपस्या आरम्भ कर दी। जय के अभिलाषी पाण्डुपुत्र ने चिरकाल तक सूर्य की ओर मुँह करके एक पाँव पर खड़े होकर निराहार व्रत किया। इन्द्रियों को तपाने और शरीर को कष्ट देने वाली तपस्या द्वारा उसने पर्वत के समान दृढ़ता प्राप्त कर ली। धैर्यशाली व्यक्तियों का ऐश्वर्य भी असाधारण होता है। दर्शकों को ऐसा लगता था मानो राक्षसों के संहार के लिए भगवान् शंकर उद्यत हुए हैं। भेद केवल इतना ही था कि अभी मस्तक का चन्द्र उदित नहीं हुआ था। तपस्वी लोगों के मन में उस अत्यन्त तेजोमय तपोधन को देखकर यह कौन है? यह स्वयं इन्द्र हैं या सूर्य हैं अथवा अग्निदेव हैं? इस प्रकार के प्रश्न पैदा हो रहे थे।

तपस्वी के तेज से पराजित होकर मुनि भगवान् आशुतोष की शरण में उपस्थित हुए और इस प्रकार अपनी दुःखद कथा सुनायी—

'हे भगवन्! कोई वृत्रासुर की भाँति विशालकाय पुरुष, अपने तेज से ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल को भी पराजित करके तपस्या कर रहा है। उसके पास धनुष, तूणीर और खड्ग रखे हुए हैं। वह जटाएँ एवं वल्कल भी धारण किये हुए है। आश्चर्य तो यह है कि इस मुनि-प्रतिकूल विचत्र वेश में भी वह शोभायमान दिखाई देता है!

उसकी इच्छा कुछ भी हो, परन्तु हम उसका तेज सहन करने में सर्वथा असमर्थ हैं। हे नाथ, आप तो सर्वज्ञ हैं, फिर आप उसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? आप हम लोगों की रक्षा कीजिए, ऐसा न हो कि आपकी उपेक्षा से हमारा अहित हो।'

मुनियों की ऐसी दयनीय वाणी सुनकर चंचल समुद्र की ध्वनि के समान गंभीर नाद से दिशाएँ गुँजाते हुए भगवान् रुद्र ने उत्तर दिया— 'तुम लोग भ्रम में पड़े हो। वह तपस्वी और कोई नहीं, विष्णु का अंशभूत बदरिकाश्रमवासी नर का पार्थिव रूप है। ब्रह्मा की इच्छानुसार वह और कृष्ण पृथ्वी पर राक्षसों का नाश करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं। संहारकारी अर्जुन की भीषण तपस्या से आतंकित होकर दानव ने वराह का रूप धारण किया। तुम सब वहाँ मेरे साथ शीघ्र चलो। दानव जानता है कि अर्जुन सचेत है और सशस्त्र है, इस कारण वह वराह का रूप धारण करके आक्रमण करेगा। मैं किरात का वेश धारण करके वहाँ जा रहा हूँ। मैं उस वराहरूपधारी दानव पर शर प्रहार करूँगा। अर्जुन भी करेगा। इस पर मृगया के नियम के अनुसार हमारा उससे वाद-विवाद हो जायगा। जिसके फलस्वरूप हमारा परस्पर द्वन्द्वयुद्ध होगा, तुम लोग इस युद्ध में देखोगे कि तपस्या के कारण

कृश हुआ एकाकी अर्जुन अपने असाधारण पराक्रम से कैसा चमत्कार दिखाता है।'

तत्काल मेघ जैसा काला, थूथन से पृथ्वी को चीरता हुआ वराहमूर्ति दानव जब अर्जुन की ओर बढ़ रहा था तब अपनी सेनाओं को जल के किनारे छोड़ कर वृक्षों और लतागुल्मों में अपने को छिपाते हुए किरातवेशधारी शंकर भगवान् भी कुछ अनुचरों के साथ दानव के पीछे-पीछे चले।

अर्जुन की दृष्टि भी वराह पर पड़ी। वे सोचने लगे कि अपनी थूथन से वृक्षों की जड़ों को विदीर्ण करता हुआ और भीषण कंधों से चट्टानों को तोड़ता हुआ यह पशु जिस प्रकार मेरी ओर बढ़ रहा है उससे प्रतीत होता है कि यह मुझे संग्राम के लिए ललकार रहा है। कुछ भी हो, यह मेरा शत्रु है। मेरा अहित करना चाहता है। अतः इसको मारना मेरा परम धर्म है।

अति तर्क-वितर्क के पश्चात् अर्जुन ने वीरता के उत्कृष्ट चिह्न गाण्डीव धनुष को उठाया और शत्रु के घर में भेद करने की शक्ति रखने वाले मंत्री के सदृश बाण को उस पर रखा। जब गाण्डीवधन्वा ने अपने अजेय गाण्डीव पर शर का सन्धान किया तो प्रत्यंचा के भीषण नाद से गुफाएँ गूँज उठीं और पाँव को दबाने से चट्टानें चरचरा उठीं, मानो हिमालय ही धरातल पर लुढ़क जायगा।

जब पिनाकपाणि भगवान् शंकर की दृष्टि गांडीव धनुष ताने हुए अर्जुन पर पड़ी तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो दानवों के तीनों पुरों को भस्म करने के लिए उद्यत वह अपना ही रूप है। तब भगवान् ने भी अपने धनुष की प्रत्यञ्चा की ओर हाथ बढ़ाया। एक ओर विश्वसंहार-कर्त्ता भगवान् शंकर और दूसरी ओर गाण्डीवी अर्जुन खड़े थे और बीच में



तब गाण्डीवधन्वा ने अपने अजेय गाण्डीव पर शर का सन्धान किया (पृ० १२४)

वराहवेशधारी वह दानव था मानो प्रकृति और प्रत्यय के बीच में अनुबन्ध हो।

पिनाकपाणि ने पहला बाण छोड़ा जिससे आकाश आलोकित हो गया और उसकी टंकार से वन के हाथी भी काँप गये। वह वराह के शरीर में घने कुहरे में प्रवेश करने की तरह अनायास पार कर गया।

दूसरी ओर गाण्डीवी ने भी अपने लक्ष्य की ओर सुन्दर बाण छोड़ दिया। वह चित्तवृत्ति से भी तीव्रगतिवाला बाण वराह के शरीर के आर-पार हो चुका था।

वह दानव शंकर के बाण से पहले ही जख्मी हो चुका था, फलतः गाण्डीवी के बाण ने अनायास उसका प्राणान्त कर दिया। उसी समय पांडुपुत्र ने देखा कि वहाँ किरातराज का दूत अपने स्वामी का संदेश लेकर आया है।

दूत ने अपनी जाति के अनुरूप प्रणाम करने के पश्चात् अर्जुन से इस प्रकार निवेदन किया—

'देवतुल्य तुम्हारी आकृति में शान्ति, विनय, तेज, तप ये सब गुण भासित होते हैं। ये सूचित करते हैं कि तुम्हारा जन्म किसी उच्च वंश में हुआ है। दूसरे के मारे हुए शिकार को मारने में तुम जैसे मनस्वी व्यक्ति को लज्जा आनी चाहिए। यदि हमारे स्वामी इस हिंस्रजन्तु को तीक्ष्ण बाण से न मार देते तो तुम्हारी जो दशा होती, उसका वर्णन करना भी कठिन है। ऐसा अभिमान मत करना कि इस वराह को तुमने ही मारा है। वज्रवत् दृढ़ अंगोंवाले इस भयानक वराह को हमारे चमूपति के अतिरिक्त और कौन मार सकता है? यों तो सेनापति के मारे हुए शिकार को तुमने पिष्ट-पेषण करके, पीछे से आहत करके घोर अपराध किया है। परन्तु मुनि होने के कारण तुम शस्त्र-विद्या के नियमों से परिचित नहीं

हो, यह समझ कर स्वामी ने तुम्हें क्षमा कर दिया है। अब हमारा बाण तुम हमें दे दो और अपना अभीष्ट प्राप्त करो। हे मुनिवर, मेरी तो तुमको यही सम्मति है कि तुम उस धनुर्धारी वीर के मित्र बन जाओ, इससे तुम्हारे अभीष्ट की सिद्धि होगी।'

किरात ने अर्जुन को तिरस्कृत करने के लिए जो उद्धत बातें कहीं, उनसे अर्जुन को क्रोध तो बहुत आया, परन्तु उन्होंने धैर्य को नहीं छोड़ा। जैसे बार-बार समुद्र की लहरों के टकराने पर भी तटवर्ती पर्वत अचल रहता है वैसे ही पांडुपुत्र भी शान्त एवं अटल बने रहे। फिर क्षण भर के पश्चात् शत्रु के अभिप्राय को भली प्रकार समझ कर और समय तथा परिस्थिति को ध्यान में रख कर सर्वथा शान्तभाव से अर्जुन ने उत्तर दिया—

'बाण पर अधिकार जमाने के उद्देश्य से तुमने साम, दाम, दण्ड और भेद सभी का प्रयोग करके चातुर्यभरी वाणी से अन्याय को न्याय-संगत सिद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया है। तुम्हारा यह कहना सर्वथा असंगत है कि मैं किरातराज का मित्र बन जाऊँ। कहाँ वह पशुओं का नीच कुलका हिंसक और कहाँ हम वर्णाश्रम की रक्षा करने वाले क्षत्रिय!'

अर्जुन की इन वीरतापूर्ण उक्तियों का उत्तर दूत ने युद्ध की धमकी से दिया और उसने प्रतीक्षा करते हुए सेनापति भगवान् पिनाकपाणि के पास जाकर सारा हाल सुनाया।

सेनापति ने तत्काल गणों की सेना को आगे बढ़ने का आदेश दिया। प्रलय-काल के झंझावात से चोट खायी हुई समुद्र की उत्ताल तरंगों की भाँति गम्भीर घोष करती हुई वह सेना आगे बढ़ी।

जंगल से बाहर निकल कर गणों ने देखा कि तपस्या से कृश, पर संसार का संहार करने वाली प्रलयाग्नि-सा, जाज्वल्यमान, निर्भय गाण्डीवी युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ा है। पहले तो वे लोग तपस्वी के प्रभाव से इस प्रकार असमंजस में पड़ गये कि कुछ करते-करते

न बना। परन्तु फिर शीघ्र ही सँभल कर एक दूसरे की देखा-देखी साहस बटोर कर सब ने एकत्र हो आक्रमण आरम्भ कर दिया।

गणों की धनुष-टंकार को सुन कर और उनके बाणों को देख कर वीर अर्जुन ने गाण्डीव को सँभाला। प्रत्यञ्चा को कान तक खींचा और उल्का की तरह जाज्वल्यमान दृष्टि से एक बार आगे बढ़ते हुए सैनिकों की ओर देखा। तब गाण्डीव से उन्होंने प्रलयकारी बाण बरसाये। गाण्डीव से निकली हुए बाणवर्षा ने गणों के शस्त्रास्त्रों को रास्ते में ही काट कर गिरा दिया। गाण्डीव से निकले हुए बाणों से विदीर्ण वह किरात-सेना ग्रीष्मऋतु की आँधी से प्रक्षिप्त धूलिसमूह की भाँति छिन्न-भिन्न हो गयी।

घबरा कर किरातवेशधारी पिनाकपाणि की सेना सूर्य द्वारा छिन्न-भिन्न किये हुए अन्धकार की भाँति युद्धस्थल छोड़ कर भागचली।

अर्जुन के पराक्रम से भगवान् पिनाकपाणि मन में प्रसन्न हो रहे थे। परन्तु गणों की दुर्दशा देखकर उनके मन में विकृति उत्पन्न हो गयी, जो उनके चेहरे पर भी आभासित हुई। चित्त में प्रसन्न और बाहर माथे पर रोष की लहर, यह भी महापुरुषों के चरित्र का एक विचित्र रहस्य है।

सेनापति अपने शत्रु के आक्रमण को निरर्थक करने के लिए जो-जो प्रयत्न करता है, भगवान् पिनाकपाणि ने वे सब किये, अर्जुन के अस्त्रव्यूह को तोड़ डाला, बाणों की तीव्र गति को बीच में ही अवरुद्ध कर और फिर अर्जुन पर प्रत्याक्रमण आरम्भ कर दिया।

पिनाकपाणि की भुजाओं से आहत होकर भी अर्जुन दुःखी नहीं हुए। इसे भी अपनी तपस्या का अंश समझ कर सुख अनुभव करने लगे। उधर अर्जुन के प्रहारों से रक्तरञ्जित उमापति का वक्ष उषःकाल के प्रकाश से रँगे हुए मेघ की भाँति अत्यन्त लोहित दिखाई देने लगा। किन्तु

अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह किरातराज के वक्षःस्थल पर जो मुष्टि प्रहार करता है, वह ऐसे व्यर्थ जाता है जैसे चढ़ते हुए समुद्र की प्रबल लहरें सह्य पर्वत की चट्टानों से टकरा कर व्यर्थ हो जाती हैं। इतने में त्रिपुर विजेता ने अपनी दोनों बँधी मुट्ठियों से अर्जुन के कन्धे पर इतने बल से प्रहार किया कि गाण्डीव का मस्तक चकरा गया और वह तीन चार कदम ऐसे लुढ़क गये मानो नशे में हों। अब तो अर्जुन की क्रोधाग्नि अत्यन्त प्रचण्ड हो उठी और उसने लपक कर अपनी भुजाओं से शत्रु की भुजाओं को जकड़ लिया। दोनों का मल्ल-युद्ध होने लगा। दोनों की भुजाएँ शक्तिशालिनी थीं, दोनों को अपने-अपने बल का गर्व था और दोनों मल्ल-युद्ध के दाँव-पेंच जानते थे। इस तीव्रता से मल्ल-युद्ध हो रहा था कि शंकर कौन से हैं और अर्जुन कौन से। शंकर नीचे गिर रहे हैं कि अर्जुन, यह पहचानना गणों के लिए भी कठिन हो गया। पर्वतराज की बड़ी विचित्र दशा थी। उसको अपने संहार का भय था। वह गाण्डीवी के हिलने पर हिलता था, ठहरने पर ठहरता था, झुकने पर झुकता था और उठने पर मानो उठता था। जब वे दोनों एक दूसरे की पकड़ से निकल कर भुजाओं को ठोंककर उछलते थे, तब उनके पैरों के दबाव के कारण नदियों के किनारे कट गये थे, अतः उनका पानी मैदान में फैलने लगा था।

ऐसे भीषण मल्ल-युद्ध के बीच में भगवान् पिनाकपाणि ने भक्त की परीक्षा के लिए आकाश में छलाँग लगायी। अर्जुन ने लपककर भगवान् के दोनों चरण पकड़ लिये।

परीक्षा समाप्त हो गयी। पाण्डुपुत्र की असाधारण वीरता से ही शंकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये। अब चरण पकड़ने से तो वे गद्गद हो गये और चरणों से पकड़ कर भूमि पर पटकने की इच्छा रखनेवाले अर्जुन को वक्ष से लगाकर उन्होंने उसका दृढ़तापूर्वक आलिङ्गन कर



अर्जुन ने आश्चर्यचकित होकर भगवान् शंकर को देखा (१२९)

लिया। भगवान् अर्जुन के तप से उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने कि उसके उत्कृष्ट बल से।

पाण्डुपुत्र के आश्चर्य की सीमा न रही। उसने देखा कि जिसे वह किरातराज समझे हुए था, वह साक्षात् भगवान् पिनाकपाणि शंकर ही हैं। सुन्दर शरीर पर हिम के समान श्वेत भस्म रमायी हुई है, माथे पर अर्द्ध चन्द्र का चिह्न है और सिर पर जटा-जूट है। पाण्डुपुत्र ने अपने इष्टदेव को झुककर प्रणाम किया। तत्काल पाण्डुपुत्र ने विस्मयपूर्वक देखा कि उसके बाणों से भरे हुए तूणीर, गाण्डीव धनुष, कवच और खड्ग, ये सब उपकरण उसके समीप ही रखे हुए हैं।

इस शुभ अवसर पर अन्तरिक्ष से देवों ने कुसुमों की वृष्टि की। दसों दिशाओं से मधुर वाद्य का स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। इन्द्र के साथ आये हुए लोकपालों के चमकीली मणिमुक्ताओं से सजे हुए विमानों के कारण, अन्तरिक्ष मानो तारकावली से शोभित हो रहा था। विमानों के हंसाकार पंख मधुर स्वर करते हुए मानों अन्तरिक्ष का आलिंगन कर रहे थे। भगवान् शंकर के प्रसन्न होने से हर्षित, और तप की सफलता से संतुष्ट होकर अर्जुन ने इस प्रकार शंकर भगवान् की स्तुति आरंभ की—

'हे सृष्टि-कर्ता दयालु प्रभु, साधारण मनुष्य भी आपकी शरण में आकर, ससम्मान अमरता को प्राप्त करते हैं और दूसरों को शरण देने वाले हो जाते हैं। जिस मनुष्य की आप में भक्ति नहीं, उस पर घोर संकट पड़ते रहते हैं। उसकी मनःकामनाएँ कभी पूर्ण नहीं होती और अन्य लोग उसके समक्ष झुकना पसन्द नहीं करते।

'भगवन्! आप इतने महान् हैं और मैं एक क्षुद्र व्यक्ति हूँ। आप ज्ञानियों के अग्रणी हैं और मैं एक शिशु हूँ। मैंने अज्ञान में आपके प्रति जो अविनय का आचरण किया है, उसे क्षमा कर दीजिए।

चरणों में सिर रख कर विजय-वर माँगनेवाले पांडव को भगवान् शंकर ने आदरपूर्वक सान्त्वना दी और रौद्रास्त्र के प्रयोग और संसार को ज्ञान देनेवाले धनुर्वेद का उपदेश दिया।

भगवान् के रौद्रास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर इन्द्र और अन्य लोकपालों ने भी अर्जुन को आशीर्वाद के साथ-साथ अमोघ अस्त्र भी प्रदान किये।

तब चरणों में नत अर्जुन को भगवान् शंकर ने आदेश दिया—'वत्स, जाओ, और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो।' देवताओं ने भी अर्जुन की प्रसंशा की और आशीर्वाद दिया।

इस प्रकार आदेश एवं आशीर्वाद प्राप्त करके वीर पाण्डुपुत्र ने आत्मीयजनों के पास लौट कर, महाराज युधिष्ठिर के चरणों में नमस्कार किया और भगवान् आशुतोष की असीम कृपा का उपलब्ध फल भी उन्हें बतलाया।

महाकवि माघ

संक्षिप्त परिचय

कविकुलकमलदिवाकर महाकवि माघ के पिताका नाम दत्तक था, ये परमोदार एवं वदान्यशूर तथा सब के आश्रयदाता थे, अतएव ये 'सर्वाश्रय' नामान्तर से भी प्रसिद्ध थे। इनके पितामह का नाम 'सुप्रमदेव' था। ये श्रीवर्मल राजा के धर्मसचिव थे। श्रीवर्मल इनके उपदेशों को बड़ी श्रद्धा के साथ मानते एवं तदनुसार आचरण करते थे। माघ के स्वरचित कविवंशवर्णन से माघ के सम्बन्ध में इतना ही पता चलता है।

माघ कवि के पितामह 'सुप्रमदेव' के आश्रयदाता 'श्रीवर्मल' राजा का एक शिलालेख 'वसन्तगढ़' नगर में कुछ दिन पूर्व उपलब्ध हुआ है। उक्त शिलालेख विक्रम संवत् ६८२ में लिखा गया था। अतः विक्रम संवत् ६८२ (तदनुसार ईशवीय सन् ६२५) में सुप्रमदेव के समय के आधार पर उनके पौत्र महाकवि माघका समय ईशवीय सन् सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग या अधिक से अधिक आठवीं शताब्दी का आदि भाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

माघकाव्य की प्राचीन प्रति के सर्गों के अन्त में लिखी गयी पुष्पिका में उल्लिखित 'भिन्नमालव' के 'प्रभावकचरित' में 'श्रीमाल' लिखा है। माघकाव्य के लगभग पाँच छः सौ वर्ष बाद रचित 'प्रभावकचरित' के रचनाकाल में सम्भवतः 'भिन्नमालव' का ही नामान्तर 'श्रीमाल' हो गया हो। यह 'श्रीमाल' नगर राजस्थान तथा गुजरात की सीमा पर वर्तमान में अवस्थित है और इन दो राज्यों में 'श्रीमाली' जाति के ब्राह्मण अब भी निवास करते हैं। महाकवि माघकृत छोटे-से रैवतक पर्वत के परमोत्कृष्ट वर्णन से भी उसमें माघकवि की ममता प्रतीत होती है। अतएव

गुजरात में स्थित यह 'श्रीमाल' नगर ही महाकवि माघ की जन्मभूमि सिद्ध होती है।

महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ नहीं लिखा।

'शिशुपालवध' के आद्यन्त सम्यक् परिशीलन करने से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि महाकवि माघ कभी परमैश्वर्यसम्पन्न, कुलीन, व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् थे; इनके काव्यरसिक होने का प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी अनुपम कृति शिशुपालवध से ही स्पष्ट हो जाता है। इसके साथ ही इसी कृति से उनके वेद-वेदान्त, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र एवं योगशास्त्र, पुराण, इतिहास, भूगोल, छन्द, ज्यौतिष, कामतन्त्र, आयुर्वेद, संगीत, सामुद्रिकशास्त्र, राजनीति, हयशास्त्र, गजशास्त्र आदि-आदि में पूर्णतया निष्णात होने के प्रचुर मात्रा में प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि प्रथम सर्ग में नारदकृत तथा चतुर्दश सर्ग में भीष्म पितामह कृत कृष्णस्तुति से यह स्पष्ट है कि ये सनातन वैदिक धर्म के अनुयायी एवं परम्परागत परिपाटी के पोषक थे, तथापि बौद्ध, जैन आदि अन्य मत के ग्रन्थों का भी इन्होंने पूर्णतः परिशीलन किया था। इन्होंने किसी भी विषय का वर्णन उसके अन्तस्तल में प्रवेश कर सूक्ष्म निरीक्षण के साथ ही किया है, प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण में महाकवि माघ की बहुत दूरदर्शिनी दृष्टि थी। साथ ही अतिशय गहन विषयों का भी वर्णन इन्होंने ऐसी सरलता से किया है कि विषय दर्पण के समान स्पष्ट झलकता-सा प्रतीत होने लगता है। इनकी कृति में कदाचित् ही कोई ऐसा पद्य मिले जो अलङ्काररहित हो। अलङ्कार का ऐसा प्राचुर्य होने पर भी किसी एक भी पद्य में इन्होंने अलङ्कार को बलपूर्वक इस प्रकार समाविष्ट नहीं किया है जो किसी को लेशमात्र भी खटकता हो।

महाकवि माघ-रचित

शिशुपालवध-कथा-सार

जब जगदाधार श्रीकृष्ण भगवान् द्वारकापुरी में लोकशासन कर रहे थे, तब एक समय नारदजी आकाशमार्ग से उनके यहाँ आये। उन्हें देख कर श्रीकृष्ण भगवान् ने यथोचित अतिथिसत्कार कर उनकी प्रशंसा करते हुए आगमन का कारण पूछा। उत्तर में नारदजी ने श्रीकृष्ण भगवान् के दर्शन को ही प्रधान कारण बतलाते हुए इन्द्र के सन्देशरूप में शिशुपाल को मारने के लिए कहा तथा उसकी परमावश्यकता-प्रदर्शनार्थ शिशुपाल के पूर्वजन्म में 'हिरण्यकशिपु' तथा 'रावण' होकर उनके देवपीडन आदि औद्धत्यपूर्ण कार्यों को विस्तार के साथ कहा; और यह भी कहा कि उन्हें नरसिंह तथा दशरथनन्दन राम के रूप में आपने ही मारा तथा पुनः शिशुपाल के औद्धत्यपूर्ण कार्यों को कहते हुए 'उसे भी आप ही मार सकते हैं' ऐसा कहा। नारदजी के कथित इन्द्र-सन्देश को सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् ने क्रोध से भृकुटि चढ़ा ली और शिशुपाल को मारने की स्वीकृति प्राप्त कर नारदजी स्वर्ग को लौटे।

नारदजी के लौटने के उपरान्त राजसूय यज्ञ में धर्मराज युधिष्ठिर से निमन्त्रित श्रीकृष्ण भगवान् 'मित्रकार्य-सम्पादनार्थ युधिष्ठिर के यज्ञ में या देवकार्य-सम्पादनार्थ शिशुपाल के साथ युद्ध करने जाना चाहिये ?' इस विषय में संशयालु होकर मंत्री एवं चाचा उद्धवजी के तथा अग्रज बलरामजी के साथ मन्त्रणागृह में पहुँचे और 'हमलोगों के विना भी युधिष्ठिर लोकविजयी भीम, अर्जुन आदि भाइयों के साथ यज्ञ कर सकते हैं, अतएव जगत्पीडनकर्ता शत्रु की उपेक्षा करना उचित नहीं प्रतीत होता' इस प्रकार अपना अभिमत व्यक्त करते हुए उन्होंने उन लोगों से भी अपनी-अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। तदनन्तर पहले बलरामजी

ने अनेक प्रकार की युक्तियों तथा दृष्टान्तों के द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् के वचन का समर्थन करते हुए शीघ्रातिशीघ्र शिशुपाल के प्रति अभियान करने के लिए अपनी सम्मति दी। तदनन्तर उद्धवजी ने तर्कपूर्ण विविध युक्तियुक्त वचनों से बलरामजी के प्रत्येक वचन का खण्डन कर धर्मराज युधिष्ठिर के यहाँ यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए कहा तथा यह भी कहा कि अपने गुप्तचरों द्वारा शिशुपाल के पक्ष के राजाओं में फूट डालना तथा अपने पक्ष के राजाओं को युद्ध के लिए तैयार होकर युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए सूचित कर देना चाहिए; क्योंकि जब युधिष्ठिरादि पाण्डव आप (श्रीकृष्ण भगवान्) की अधिक भक्ति एवं पूजा-सत्कार करने लगेंगे तब उसे सहन न करता हुआ चपल प्रकृति का शिशुपाल आपकी निन्दा करने लगेगा। इस प्रकार अपनी फूआ शान्तनवी, शात्वती के प्रति शिशुपाल के सौ अपराधों को सहन करने के पूर्वप्रतिज्ञात वचन को सम्यक् पालन कर चुकने पर जब आप शिशुपाल का वध करेंगे तब उसके यहाँ चढ़ाई करने के उद्देश्य की सिद्धि उसी हस्तिनापुर में स्वतः एव सम्पन्न हो जायगी। राजनीति-निपुण पितृव्य एवं मन्त्री उद्धवजी के वचन के अनुसार ही कार्य करने का निर्णय कर श्रीकृष्ण भगवान् सभा विसर्जन कर कार्यान्तर साधन में लग गये।

युद्ध का विचार स्थगित होने से सौम्यमूर्ति श्रीकृष्ण भगवान् ने अनेकविधि बहुमूल्य आभूषणादि तथा तप्तसुवर्णवत् चमकते हुए पीताम्बर को धारण किया और साथ में कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, शार्ङ्ग धनुष, पाञ्चजन्य शङ्ख को ग्रहण किया और सर्वत्र अप्रतिहतगति रथपर वे सवार हुए, जिस पर गरुड़चिह्नाङ्कित ध्वजा फहरा रही थी उनके पीछे बड़ी-बड़ी ध्वजाओं को फहराती हुई अपरिमित चतुरङ्गिणी सेना चल रही थी। नागरिकों की भीड़ उन को देखने के लिए आगे की गलियों के रास्ते से पहले पहुँच जाती थी। श्रीकृष्ण भगवान् की राजधानी सुवर्णमयी द्वारकापुरी समुद्र को मध्य में विदीर्ण कर ऊपर

निकली हुई वडवानल की ज्वाला-सी शोभित होरही थी। उस के बाजारों में दूकानों पर बहुमूल्य रत्नों के ढेर लगे हुए थे। उस की अट्टालिकाएँ परकोटे बहुत ही ऊँचे तथा अत्यन्त चिकने (पालिशदार) थे और उनपर बनाये गये चित्र सजीव-से प्रतीत होते थे। वहाँ की नर-नारियाँ बहुत ही सुन्दर और सौम्य थीं। ऐसे स्वर्गोपम द्वारकापुरी को देखते हुए श्रीकृष्ण भगवान् जब उस से बाहर निकले तब उन्होंने समुद्र को देखा। उस में बहुत-सी नदियाँ आकर मिल रही थीं। उस से निकलते हुए फेन तथा चञ्चल तरङ्ग एवं गम्भीर ध्वनि ऐसी लग रही थी मानो उस को मृगी का रोग हो गया हो। उस पार की श्यामल वनावली बहुत सुहावनी लगती थी। तटपर मोती चमक रहे थे और शीतल मन्द सुगन्ध वायु से सैनिकों का श्रम दूर हो रहा था। ऐसे समुद्र के तटपर पड़ाव डालकर सैनिकों ने लवङ्ग के फूलों का कर्णभूषण पहना और तृप्त हो कर नारियल का पानी पीया।

आगे चलते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने बड़े-बड़े चट्टानों के ऊपर उठते हुए बादलों से सूर्य-मार्ग को पुनः रोकने के लिए उद्यत विन्ध्यपर्वत के समान उन्नत रैवतक को देखा। भगवान् को उत्कण्ठित देख उन का सारथि दारुक उस रैवतक पर्वत का वर्णन करने लगा। उस ने कहा—सूर्य के उदय तथा चन्द्रमा के अस्त होते समय यह पर्वत ऐसा शोभित होता है मानो दोनों पार्श्वों में लटकती हुई दो घण्टाओंवाला हाथी हो। स्वर्णमयी भूमिवाला यह रैवतक पर्वत ऊँचे शिखरों से गिरते हुए झरनों के ऊपर उछलती हुई जलबिन्दुओं से स्वर्गीय देवाङ्गनाओं का शरीर शीतल करता है। पानी में एक ओर स्फटिक तथा दूसरी ओर नीलमणि की कान्ति से गङ्गायमुना के सङ्गम के समान इस का जलाशय शोभित होता है। एक ओर सुवर्णमयी तथा दूसरी ओर रजतमयी दीवाल से यह पर्वत भस्मोद्धूलित एवं नेत्र से अग्निकण निकलते हुए शिवजी के समान प्रतीत होता है। विकसित चम्पक से पिङ्गलवर्ण कनकमयी दीवालों से

सुमेरु-तुल्य इस पर्वत के द्वारा भारतवर्ष इलावृत्त के समान शोभित होता है। यहाँ कम्बलमृग विचरते हैं, स्त्रीसहित सिद्धगण विहार करते हैं, रात्रि में ओषधियाँ चमकती हैं, पुष्पित कदम्ब को कम्पित करती हुई सुखद वायु बहती है। यहाँ दारिद्र्यनाशक रत्नों की खाने हैं और यह किन्नरों की विहारस्थली है। यहाँ चमरी गायें तथा विशालकाय हाथी विचरते हैं। इस प्रकार भोगभूमि होता हुआ भी यह पर्वत सिद्धभूमि है, क्योंकि यहाँ पर मैत्री आदि चारों वृत्तियों के ज्ञाता, अविद्या आदि पाँच क्लेशों का त्यागकर सबीज योग को प्राप्त किये हुए प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान प्राप्तकर बहुत से सिद्धपुरुष समाधि लगाये हुए निवास करते हैं। इस प्रकार परम श्रेष्ठ यह रैवतक पर्वत ऊपर उठते हुए श्यामल मेघों से मानो आपका अभ्युत्थान करने के लिए ऊपर उठ रहा है।

दारुक से रैवतक पर्वत का उदात्त वर्णन सुनकर उसपर विहार करने के लिए श्रीकृष्ण भगवान् ने सेना-सहित प्रस्थान किया। कहीं झूमते हुए गजराजों के झुण्ड चल रहे थे तो कहीं बड़े-बड़े घोड़े पङ्क्ति-बद्ध होकर अपने पदाघातों के द्वारा नगाड़ा बजाते हुए चल रहे थे। एक ओर रथ-श्रेणी भूमि की धूलि को चूर्ण करती हुई चल रही थी तो दूसरी ओर झुण्ड के झुण्ड भारवाही ऊँट चल रहे थे। इस प्रकार आगे बढ़ती हुई सेना यथास्थान पहुँच कर अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल स्थानों पर ठहर गयी। उस में कुछ सैनिक पर्वत की उन कन्दराओं में ठहर गये, जिनमें गजराजों को मारकर लाये हुए मोती सिंहों के पञ्जों से बिखरे पड़े थे। बहुत से सैनिक छायादार वृक्षों की छाया को छोड़कर आगे आनेवाली छायावाले स्थान में ही ठहर गये। उस सेनानिवेश में एक ओर पर्वताकार विशालकाय हाथियों के झुण्ड मद बरसा रहे थे और दूसरी ओर खूँटे को उखाड़ कर भागते हुए घोड़े सैनिकों को व्याकुल कर रहे थे। एक ओर कोई बैल बोझा उतारने पर पेड़ के नीचे

बैठकर जुगाली कर रहा था तो दूसरी ओर कोई नदीतट को उत्पाटित करता हुआ उच्च स्वर से गरज रहा था। कहीं पर नीम के कड़वे पत्तों को खाता हुआ कोई ऊँट मधुर एवं कोमल आम्रपल्लव को उगल रहा था। दूसरी ओर पड़ाव में वैतालिक यादव-नृपतियों की प्रशस्तियों को यथासमय गा रहे थे और वहाँ पर सान्ध्य मेघ के समान अरुण वर्ण के पट-मण्डप (खेमे) शोभित हो रहे थे।

रैवतक पर्वत पर विहार करने की इच्छा करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् की सेवा करने में वसन्तादि छहों ऋतुएँ एक साथ प्रवृत्त होने लगीं। वसन्त के आने पर वृक्षों ने नवपल्लवों को तथा लताओं ने सुरभित पुष्पों को उत्पन्न किया। शीतल मन्द सुगन्ध हवा बहने लगी। कोयलें कुहकने लगीं। भौंरे गुञ्जार करने लगे। ग्रीष्म के आने पर शिरीष तथा नवमल्लिका के फूल विकसित होने लगे। सुरभित पाटल (गुलाब) के फूल फूलने लगे। वर्षा के आने पर बिजली चमकने लगी। मेघों को देख कर मयूर केका शब्द करने लगे। कदम्ब, केतकी, कुटज (इन्द्रजौ) और मालती में फूल लगने लगे। शरद् के आने पर चन्द्र किरणें निर्मल हो गयीं। मयूरों की ध्वनि कर्णकटु तथा हंसों की ध्वनि कर्णमधुर हो गयी। बाण, आसन, सप्तच्छद तथा कमल विकसित हो गये और धान की रखवाली करने वाली गोप-कन्याओं के गीत सुनने में तन्मय होकर मृग-समूह धान खाना भी भूल गये। झुण्ड के झुण्ड तोते उड़ने लगे। हेमन्त के आने पर गज-मज्जन योग्य अगाध पानी वाले जलाशयों का पानी जम कर कम हो गया। शिशिर के आने पर पुष्पित प्रियङ्गुलता पर भ्रमर गुञ्जार करने लगे। सूर्य की किरणों का तेज मन्द पड़ गया। लोध पुष्प के पराग क्षुब्ध सेना की धूलि के समान चारों ओर उड़ने लगे और कुन्द तथा लवङ्ग के पुष्पराग से भ्रमर मलिन हो गये।

इस प्रकार छहों ऋतुओं के एक साथ प्रादुर्भूत होने पर भगवान् की सेना जल-विहार के हेतु शिविर से बाहर निकल पड़ी।

सेनाओं की संख्या अधिक होने से मार्ग ठसाठस भरा था। जलाशय के मार्ग में कहीं पर हंसी बैठी थी, कहीं पर पत्थरों से टकराती हुई नदियाँ द्रुत वेग से बह रही थीं, कहीं मोती बिखरे हुए थे और भ्रमर-समूह पुष्प को छोड़कर अधिक सौरभ के लोभ से रमणियों के अञ्चल पर बैठ रहे थे। मोर मोरिनी को पंख से छाया कर रहा था। हंस समूह कमलश्रेणियों में छिपे हुए दिन व्यतीत कर रहे थे।

जलविहार के पश्चात् जब सेनाएँ अपने-अपने शिविर में पहुँचीं उस समय सूर्यास्तकालीन दिनका अन्तिम समय वृद्धावस्था को प्राप्त मन्ददृष्टि वृद्ध पुरुष के जैसा क्षीणकान्ति प्रतीत हो रहा था। पक्षिसमूह कलरव करते हुए अपने निवास वृक्ष की ओर जा रहे थे। अरुण वर्णवाला आधा अस्त हुआ सूर्यबिम्ब सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के द्वारा नख से विदीर्ण किये गये सुवर्णमय अण्डे के समान सुशोभित हो रहा था। कमलिनियाँ मुकुलित हो रही थीं। तारा एवं चन्द्रमा के उदय न होनेपर भी शान्त गर्मीवाला अन्धकाररहित आकाश शोभित हो रहा था। पूर्वदिशा में चन्द्रकला से कुछ विदीर्ण हुआ आकाश क्षणमात्र के लिए शिवजी की मूर्त्ति जैसा प्रतीत हो रहा था। इस प्रकार क्रमशः सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल के उदय होने पर अन्धकार-समूह नष्ट हो गया। समुद्र बढ़ने लगा और चन्द्रमा तथा रात्रि ये दोनों ही एक दूसरे की शोभा बढ़ाने लगे। कुमुदिनी विकसित हो गयी। चन्द्रिकासंसर्ग होने पर चन्द्रकान्तमणि की मूर्तियाँ पसीजने लगीं। गम्भीरतम समुद्र को क्षुब्ध करनेवाले चन्द्रमा के उदय होने पर अनुरागी यादव लोग विश्राम करने के लिए अपने-अपने शयनागार में चले गये।

प्रातः भगवान् श्रीकृष्ण को जगाने के लिए मधुर कण्ठ वाले बन्दी लोग उच्च स्वर से प्रभाती गाने लगे। चन्द्रमा के अस्त होने से पूर्व दिशा स्वच्छ हो रही थी। चन्द्र की शुभ्र किरणों से पश्चिम दिशा कुछ अरुणवर्ण होकर शोभित हो रही थी। क्रमशः मुकुलित एवं विकसित होते हुए कुमुद तथा कमलों के समूह भ्रमरगुञ्जन-युक्त होकर क्रम से अवनति तथा उन्नति की मध्यावस्था में स्थित होकर समान रूप से शोभित हो रहे थे। प्रभात की शीतल मन्द-सुगन्ध वायु धीरे-धीरे बहने लगी थी सूर्योदय होने के पहले ही अरुण से अन्धकार दूर हो रहा था। द्विज लोग अग्निहोत्रादि प्रातःकृत्य प्रारम्भ कर रहे थे। तप्त ताम्र के गोले के समान उदित सूर्य समुद्र के बड़वानल की ज्वाला से सन्तप्त अङ्गार-जैसा लाल हो रहा था। नदियों की धारा सूर्य-किरणों के सम्पर्क से लाल हो रही थी। चन्द्रकिरणों से स्फटिक-मणिनिर्मित-सा प्रतीत होता हुआ रात्रि का वह सुधाधवल प्रासाद इस समय सूर्यकिरणों के सम्पर्क से कुङ्कुम जल से स्नात-सा प्रतीत हो रहा था। कमलों के विकसित होने से उनमें बन्द हुए भ्रमर बाहर निकल रहे थे। इस प्रकार कल्पान्त में जगत् का संहार कर क्षीरसमुद्र में सोये हुए विष्णु भगवान् के समान सूर्य तारा-समूह को नष्ट कर आकाश में सुप्त हुआ-सा प्रतीत होने लगा।

प्रातःकाल सूर्योदय के बाद श्रीकृष्ण भगवान् सर्वगुण-सम्पन्न मनोरम रथ पर आरूढ़ होकर शिविर से बाहर निकले। उनके पीछे हाथी, घोड़े आदि वाहनों पर शस्त्रसज्ज होकर राजा लोग चल पड़े। तत्पश्चात् ठहरने के लिए खड़े किये गये शिविर के तम्बू कनात आदि को समेट-समेट कर गाड़ी, ऊँट, बैल, खच्चर आदि वाहनों पर लाद-लाद कर पैदल सेना चलने लगी। सेना-प्रयाण के समय भयङ्कर शङ्ख एवं मृदङ्ग आदि की ध्वनि से विपक्षी राजाओं का हृदय पराजय की आशङ्का से दहल

रहा था। रथ तथा हाथियों के शब्द परस्पर मिश्रित होने से स्पष्ट नहीं ज्ञात पड़ते थे। केवल घोड़ों की हिनहिनाहट सुन पड़ती थी। रथों के पहियों से विदीर्ण भूमि हाथियों के पैरों से समतल हो रही थी। ढालू भूमि पर रास खींचने से धीरे-धीरे चलने वाले घोड़े समतल भूमि पर लगाम ढीला करने से तीव्रगति से चल रहे थे। उस सेना में बहुत से छत्रधारी राजाओं के होने से सर्वत्र छत्र-ही-छत्र दिखलायी पड़ते थे। इतनी विशाल होने पर भी वह सेना मर्यादाबद्ध (एक कतार से बायें) होकर चल रही थी। भगवान् ने रास्ते में देखा कि ग्रामीण गोप गौओं के बीच में उछल-कूद करते हुए अट्टहास कर रहे हैं। धान की रखवाली करने वाली गोपियाँ एक ओर शुकों को उड़ाती थीं तो दूसरी ओर मृग धान चरने लगते थे; और जब उधर मृगों को खदेड़ती थीं तब इधर शुक आकर धान खाने लगते थे। इस प्रकार बारी-बारी से शुकों एवं मृगों को भगाने में व्यस्त धान्य गोपिकाओं को भगवान् ने मुस्कराते हुए देखा। सेना से उड़ी हुई धूलि पर्वतों के शिखरों तक पहुँच रही थी। हाथियों के द्वारा हिलाये गये पेड़ की डालों में लटके हुए छत्तों से उड़ी हुई मधु-मक्खियों के काटने पर लोग भय-त्रस्त होकर इधर-उधर भाग रहे थे। विशाल सेना के नदी पार करते समय नदी का प्रवाह उलटा ही बहने लगता था। हाथियों के प्रवेश करने के पहले ही घोड़ों के टापों से नदी पङ्किल हो जाती थी। हाथियों ने दाँतों से तटों को तोड़-तोड़ कर नदी को स्थल तथा अपने मदजल के प्रवाहों से स्थल को दूसरी नदी बना दिया था। इस प्रकार वह विशाल सेना बहुत-से नगरों को पार करती हुई अगम अथाह यमुना नदी के तट पर आकर रुक गयी। उस समय वह यमुना नदी पृथ्वी को बल-पूर्वक पार करने के लिए उद्यत श्रीकृष्ण-सेना के सीमा-जैसी ज्ञात हो रही थी। उस यमुना नदी को कुछ लोगों ने नावों से तथा कुछ लोगों ने तैर कर पार किया।

इस प्रकार यमुना को पार कर भगवान् श्री कृष्ण की वह सेना हस्तिनापुर की ओर बढ़ी।

श्रीकृष्ण भगवान् की सेना को यमुना के पार आ जाने का समाचार सुनकर भीमादि चारों अनुजों के साथ उनकी अगवानी के लिए अत्यन्त द्रुतगति से आते हुए महाराज युधिष्ठिर के रथ के घोड़ों के टापों से उत्पन्न शब्द एक प्रकार के बाजे का भ्रम कर रहा था। श्रीकृष्ण भगवान् को दूर से ही देखकर युधिष्ठिर रथ से पहले उतरना चाहते थे, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान् झट उनसे भी पहले रथ से उतर पड़े। अपने गौरव को बढ़ाते हुए त्रिलोक-वन्दित भगवान् श्रीकृष्ण ने फूआ के पुत्र युधिष्ठिर को नम्र होकर प्रणाम किया और युधिष्ठिर ने छाती से लगा कर भगवान् का आलिङ्गन कर विनय से नम्रीभूत होकर उनके केशों का चुम्बन किया। तदनन्तर भगवान् ने भीम आदि का तथा यादवों ने पाण्डवों का परस्पर आलिङ्गन किया। इस प्रकार परस्पर मिलनेके बाद युधिष्ठिर के अनुनय-विनय करने पर अर्जुन के हाथ का सहारा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के रथ पर चढ़ गये। उस समय युधिष्ठिर भगवान् के सारथि बन गये। भीमसेन चामर चलाने लगे। अर्जुन ने छत्र को थाम लिया और नकुल-सहदेव अनुचर बनकर पार्श्व में खड़े हो गये। इस प्रकार आगे बढ़ती हुई सेना की दुन्दुभि का स्वर आकाश तक फैल गया और उस शुभकारक समागम को देवगण आकाश में विमान स्थित होकर देखने लगे। इतने में युधिष्ठिर के यज्ञ में आये हुए राजाओं के शिविरों से घिरे हुए तथा स्वागतार्थ अनेक द्वारों से सुशोभित हस्तिनापुर में भगवान् श्रीकृष्ण प्रविष्ट हुए। उन्हें देखने के लिए नगर की रमणियाँ अपना-अपना काम अधूरा ही छोड़कर खिड़कियों पर पहले से ही खड़ी थीं। किसी रमणी ने शीघ्रता के कारण करधनी को हार बना लिया तो किसी ने केशों में कर्णभूषण लगा लिया। किसी ने दुपट्टे को पहन लिया तो किसी

ने साड़ी को ओढ़ लिया और कोई कर्णभूषण को कङ्कण के स्थान पर पहन कर चली आयी थी। कोई रमणी आधे रंगे हुए गीले पैरों से ही चली आयी थी, जिससे पृथ्वीपर उसके पैरों के गीले महावर के चिह्न अंकित हो गये थे। कोई करधनी तथा नूपुर को बजाती हुई महल के ऊपर चढ़ रही थी। छत पर चढ़कर देखती हुई किसी रमणी का दुपट्टा हवा से उड़कर पताका-जैसा शोभित होता था। कोई रमणी भगवान् को अनिमेष दृष्टि से देख रही थी। कोई कान खुजलाने के छल से अपना भाव प्रकट कर रही थी। कोई अङ्गुलि को हिलाकर उन्हें बुला रही थी। जिस समय भगवान् युधिष्ठिर के सभास्थल में पहुँचे, उस समय की शोभा अमरावती की शोभा को तिरस्कृत कर रही थी। उसके महल पद्मराग मणि से बने थे और उसके बीच में इन्द्रनील मणि लगे थे। चाँदनी में भी स्फटिक मणि के बने महलों की प्रभा के एकीभाव हो जाने से लोग अन्धकार के समान ही हाथ से स्पर्श कर आगे बढ़ते थे। नागमणियों के बने हुए उस सभास्थल के प्रांगण मेघ के गरजने से वैदूर्य मणियों के अङ्कुरों से युक्त हो जाता था। उस सभास्थल में नलिनी पत्रों से पानी बिलकुल ढक गया था। अतएव उस स्थान को सूखा समझ कर चलते हुए दुर्योधन को देख कर भीमसेन के अट्टहास करने से सब राजा क्षुब्ध हो उठे। वहाँ इन्द्रनील मणियों की फैलती हुई किरणों से सूखी हुई भूमि को भी जलपूर्ण समझ कर भींगने के भय से कपड़े को उठा कर नवागन्तुक लोग चल रहे थे। इस प्रकार के अद्भुत सभास्थल में पहुँच कर भगवान् श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर रथ से उतर कर उच्चतम मनोहर रत्नजटित स्वर्ण सिंहासन पर दोनों एक साथ ही बैठे।

सिंहासनारूढ़ भगवान् श्रीकृष्ण से युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन्! मैं इस समय यज्ञ करना चाहता हूँ, तदर्थ आप आज्ञा देकर अनुगृहीत कीजिए; क्योंकि मुझे आप के ही कारण धर्मराज कहलाने का सौभाग्य

प्राप्त हुआ है। दोषहीन यज्ञ करने का इच्छुक मैं सम्पूर्ण यज्ञ-सामग्रियों को एकत्र कर आप की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आप के सान्निध्य से मेरा यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो जायगा। ये बातें सुनकर भगवान् ने कहा—'हे राजन्! मैं आप के शासन में रहता हुआ कठिनतम आज्ञा का भी पालन करने को सर्वदा तत्पर हूँ। आप मुझे अर्जुन से भिन्न मत समझिए। जो राजा आप के यज्ञ में बतलाये हुए कार्य को भृत्यवत् बनकर नहीं करेगा, उस के सिर को मेरा यह सुदर्शन चक्र पृथक् कर देगा।' उन के ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिर यज्ञ करने के लिए प्रस्तुत हो गये। वैदिक लोग सामवेदादि पढ़ने लगे। द्रौपदी के हविष्यादि यज्ञसामग्री के निरीक्षण करने से संस्कार प्राप्त हविष्य को ऋत्विज् लोग अग्नि में डालने लगे। दिङ्मण्डल को धूमिल करता हुआ अग्निधूम आकाश की ओर बढ़ने लगा। समुद्र-मन्थन से उत्पन्न अमृत का भोजन करने वाले देवता लोग मन्त्रपूर्वक अग्नि में छोड़े गये हविष्यरूप अमृत का भोजन करने के लिए उतावले हो उठे। सभी आवश्यक सामग्रियों के सर्वदा प्रचुर मात्रा में वर्तमान रहने से उस यज्ञ में किसी भी सामग्री का प्रतिनिधि द्रव्य नहीं लिया जाता था। इस प्रकार यज्ञ समाप्त होने पर महाराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को यथेच्छ यज्ञ-दक्षिणा दे देकर सन्तुष्ट किया और उधर युधिष्ठिर को उपहार में अमूल्य रत्न देने के लिए राजा लोग बाहर खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। एक राजा के द्वारा उपहार में दिया धन-राशि ही यज्ञकार्य को पूरा करने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु युधिष्ठिरने सभी राजाओं के दिये हुए अमूल्य उपहारों को ब्राह्मणों को दान दे दिया। सारांश यह कि उस समय महाराज युधिष्ठिर ने पराजित राजाओं को भी स्वतन्त्र कर दिया। इस प्रकार यज्ञ के अन्त में भीष्मपितामह की आज्ञा से ब्राह्मणों तथा राजाओं के समुदाय में सर्वगुण-सम्पन्न ब्रह्म के अंश, योगियों के ध्येय एवं सृष्टि-पालन-संहार करनेवाले सर्वज्ञ, भूभारहर्ता, पञ्चमहाक्लेशों से

रहित, कर्मफल में अनासक्त पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण को प्रथमार्घ देकर महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ संपन्न किया।

युधिष्ठिर-कृत श्रीकृष्ण भगवान् की अग्रपूजा सत्कार को देख कर अभिमानी शिशुपाल कटु वचन कहने लगा—'हे युधिष्ठिर! साधुजनों से अपूजित कृष्ण की पूजा कर तुमने उसमें बहुत बड़ा स्नेह प्रदर्शित किया है। आश्चर्य है! तुम्हें लोग झूठ-मूठ ही 'धर्मराज' कहते हैं। यदि तुम्हें इस कृष्ण की ही अग्रपूजा करनी थी तो इन राजाओं को निमन्त्रण देकर क्यों अपमानित किया? अथवा तुम मूर्ख लोग धर्मतत्त्व को नहीं जानते। यह पके हुए बालों वाला बूढ़ा भीष्म बुद्धिहीन हो गया है। 'हे भीष्म! सचमुच ही नीचगामिनी-नदी (गंगा) के तुम पुत्र हो।' इस प्रकार युधिष्ठिर तथा भीष्म को फटकार कर वह भगवान् श्रीकृष्ण से कहने लगा—'हे कृष्ण! राजोचित पूजा को स्वीकार करना तुम्हें उचित नहीं था, तुम्हें सोचना चाहिए था कि मैं कौन हूँ। तुमने मधुमक्खियों को मार कर 'मधुसूदन' नाम प्राप्त किया है। मगधराज जरासन्ध से अठारह बार पराजित हो कर भी बलरामजी के साथ रहने से तुम बलवान् कहलाते हो। शत्रुपक्ष-पीडित अपनी सेना की रक्षा में समर्थ हो कर तुम लोक में ख्याति के लिए भारभूत चक्र को धारण कर 'चक्रधर' कहलाते हो। हे विवेकहीन कृष्ण! गुणहीन तुम्हारी यह पूजा केशहीन मस्तक में कंघी फेरने के समान हास्यजनक है।' इस प्रकार भगवान् कृष्ण को फटकार कर शिशुपाल उपस्थित राजाओं से कहने लगा—सिंह के समान आप लोगों के उपस्थित रहने पर इस गीदड़ के समान कृष्ण की अग्रपूजा से क्या आप लोगों का अपमान नहीं हुआ है? पूतना का वध करते समय उसे स्त्री समझ कर यदि इसे दया नहीं आयी तो नहीं सही, किन्तु दूध पीने से वह इसकी धर्मानुसार माता हो गयी थी, फिर भी इसने उसका वध ही कर डाला! जो इसने शकट उलट दिया, यमलार्जुन वृक्षों को

उखाड़ दिया एवं छोटे गोवर्धन पहाड़ को धारण कर लिया, इसमें शूरवीरों को कोई आश्चर्य नहीं होता। कंस की गायों को चराने वाले इसने जो स्वामि (कंस) का वध किया, यह क्या आश्चर्य नहीं है ?' इस प्रकार उससे कहकर नरकासुर के साथ ताली बजा कर जोरों से हँसा।

भगवान् श्रीकृष्ण शिशुपाल के इन नये अपराधों को मन ही मन गिन रहे थे। इस प्रकार उसके परुष वचनों को सुनकर क्षुब्ध भीष्मपितामह गरज कर बोल उठे—'मैंने इस सभा में भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की है, जो इसे सहन नहीं करता वह युद्ध के लिए तैयार हो जाय, मैं ऐसे सब राजाओं के शिर पर पैर रखता हूँ।' इसी समय क्रोध से फुफकारता हुआ सर्प के समान लम्बी-लम्बी साँस लेकर शिशुपाल बोल उठा—'हे राजाओ ! इन जारज पाण्डवों तथा नपुंसक होने से स्त्री-कल्प भीष्म के साथ कंस के दास कृष्ण को क्यों नहीं अभी मार डालते ?, अथवा आप लोग ठहरें, मैं इसे शीघ्र ही बाणों से वेध कर मार डालता हूँ। ऐसा कह कर वह अपने शिविर में जाकर युद्धार्थ सेना-सन्नद्ध करने लगा। शिशुपाल के शिविर में रणदुन्दुभि बजते ही लोग इधर-उधर दौड़ने लगे, शूरवीरों ने कवच पहन लिये, सेना के कलरव से क्रुद्ध एवं मदोन्मत्त हाथियों, घोड़ों तथा रथों को लोगों ने युद्धार्थ सुसज्ज किया और वे इधर-उधर दौड़ने लगे। उधर युद्धोत्साह बढ़ाने के लिए शिशुपाल के शूरवीर अपनी रमणियों से प्रेम पूर्वक मिल रहे थे। कोई रमणी युद्ध में जाते समय फिर पति के दर्शन न पाने की आशङ्का से काँप रही थी। इस प्रकार युद्ध में प्रयाण करने वाले शिशुपाल-पक्षीय शूरवीरों के पहले से ही नानाविध अपशकुन होने लगे।

युद्धोन्मुख शिशुपाल का भेजा हुआ कोई वाग्मी दूत भगवान् श्रीकृष्ण की सभा में आकर श्लेषद्वारा प्रिय-अप्रिय द्व्यर्थक वचन कहने लगा—'क्योंकि युधिष्ठिर की सभा में आप से उसने अप्रिय वचन कहे थे,

अतः खिन्न शिशुपाल आप का सत्कार करना चाहता है, अथवा—मैंने कृष्ण को फटकार कर ही छोड़ दिया, मारा नहीं ऐसा सोचता हुआ वह आप का वध करना चाहता है। वह समस्त राजाओं के साथ प्रणत होकर आप का आज्ञाकारी बनेगा, अथवा—आप को छोड़ कर उसकी ओर गये हुए समस्त राजाओं से प्रणत वह यहाँ आकर आप को दण्डित करेगा। सूर्यवत् तेजस्वी, संयमी, कर्मयोगी आप को कौन राजा प्रणाम नहीं करता, अग्नि में पतिङ्गे के समान, अत्यन्त सामर्थ्य वाले, स्वकार्य-विनाशक अथवा—सबके वशवर्ती आप को किस गुण से प्रणाम करता है? इस तरह विविध प्रकार के द्व्यर्थक कटु वचन कह कर दूत के चुप होने पर श्रीकृष्ण भगवान् से संकेत पाकर सात्यकि ने कहा—"हे दूत! प्रत्यक्ष में मधुर तथा परोक्ष में कटु वचन कहने वाले तुम जैसे दुष्टों से सदा सचेत रहना चाहिए। शिशुपाल यहाँ पर जिस भावना से आयेगा, तदनुरूप ही उसके साथ व्यवहार किया जायगा। यदि तुम अब कुछ और परुष वचन कहो तो तुम्हें कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा।" सात्यकि के ऐसा कहने पर वह दूत निर्भय होकर फिर कहने लगा—'मन्द मति दूसरे के समझाने पर भी अपनी भलाई की बात नहीं समझता, यही आश्चर्य है। हे कृष्ण! मैंने आप के हित के लिए ही उक्त वचन कहे हैं। मांसप्रिय सिंह के द्वारा परित्यक्त गजमुक्ता के समान युधिष्ठिर से अपूजित होने पर भी शिशुपाल का महत्त्व कम नहीं हुआ है। सैकड़ों अपराधों को सहन करने वाले आप का रुक्मिणीहरणरूपी एक ही अपराध को क्षमा कर शिशुपाल आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने युद्धार्थ यादवों को ललकारने के लिए मुझे भेजा है। युद्ध में उनके सामने कोई भी नहीं टिक सकता। वे मित्रों के लिए चन्द्रतुल्य आह्लादक तथा शत्रुओं के लिए सूर्यवत् सन्तापदायक हैं। वे अकेले ही चतुरङ्गिणी सेना के साथ लड़ सकते हैं। आप इन्द्र के छोटे भाई उपेन्द्र हैं, तो वे इन्द्र के विजेता हैं। इस

प्रकार विविध उपमा देकर शिशुपाल के ओज का वर्णन करता हुआ वह दूत अन्त में कहने लगा कि हे श्रीकृष्ण ! सूर्य का तेज लोकालोक पर्वत का उल्लङ्घन नहीं कर पाता, किन्तु हमारे राजा शिशुपाल का विश्वव्यापी तेज बड़े-बड़े राजाओं को अतिक्रमण कर जाता है। उनके शत्रु की रमणियाँ पतियों के मरने पर भी विभूषणा ही रहती हैं। संग्राम होने पर वे युद्ध में आप को मार कर रोती हुई आप की रमणियों पर दयालु होकर उनके बच्चों की रक्षा करके अपने 'शिशुपाल' नाम को चरितार्थ कर लेंगे।

शिशुपालके दूतका असह्य कठोर वचन सुन कर सभास्थित सभी राजाओं के शरीर क्रोध से लाल हो गये, पसीना बहने लगा, वे तमक कर जङ्घाओं पर ताल ठोकने लगे और अधर को दाँतों से काटने लगे। बलरामजी दूत का वचन सुनकर अनादर के साथ अट्टहास करने लगे। इसी प्रकार उल्मुक, युधाजित्, निषध, सुधन्वा, आहुकि, मन्मथ, पृथु तथा अक्रूर आदि योद्धा लोग आवेश में आकर इतने क्रुद्ध हो उठे कि तत्क्षण ही शिशुपाल को कुचल देना चाहते थे। किन्तु दूत के पुरुष वचन सुनकर भी भगवान् श्रीकृष्ण तथा उद्धवजी शान्त ही रहे। तदनन्तर उपर्युक्त राजा लोग युद्ध की तैयारी करने लगे। युद्ध वार्ता से हर्षित यादव शूरवीरोंने कवच पहन लिये और हाथियों, रथों एवं घोड़ों को युद्धोपयुक्त सज्जा से सुसज्ज करने के लिए बार-बार प्रेरित करने लगे। शूरवीरों के तैयार होने पर भगवान् श्रीकृष्णजी 'शार्ङ्ग' धनुष, 'कौमोदकी' गदा तथा 'नन्दक' खड्ग आदि आयुधों को ग्रहणकर रथपर आरूढ हो गये, उनकी सेना भी सब ओर दिशाओं को व्याप्त करती हुई आगे बढ़ने लगी। सेनामें हाथी चिंघाड़ने लगे, नगाड़े आदि बाजे बजने लगे, घोड़े हिनहिनाने लगे, उनकी प्रतिध्वनियोंसे आकाश विदीर्ण होने लगा। कन्दराओं में सोये हुए सिंह निकल कर भागने लगे। दिशाएँ

धूलि-धूसरित हो रही थीं। शत्रुपक्षीय नगाड़ोंकी ध्वनि सुनकर वीर लोग उत्साहित हो रहे थे। शत्रुसेनाओं को देखते ही वे लोग आकाश में मेघ की छाया के समान सर्वत्र समान रूप से फैल गये। प्रलय में त्रिभुवन को जठर में धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने शत्रुसेना को देखते ही उसकी सङ्ख्या का अनुमान कर लिया। शिशुपाल-पक्ष के सैनिक यादव-सैनिकों को देखते ही हथियारों को उठाकर उनकी ओर तेजी से बढ़ने लगे तथा भगवान् के सैनिक भी शत्रुओं के सम्मुख बहुत तीव्रता से बढ़ गये। शूरवीर लोग रत्नजटित कवचों की किरणों से व्याप्त होने पर, युद्ध में निरन्तर बाणों से बिंधे हुए-से प्रतीत होने लगे। सेना के द्वारा उड़ायी गयी धूलि मेघ-समूह से भी ऊपर चली गयी। वीर लोगों के शिर पर धूलि पड़ने से उनके केश पके हुए-से शुभ्र हो गये तथा सूर्य-बिम्ब भी छिप गया। धूलि से दिशाऐं दिखलायी नहीं पड़ती थीं। पर्वतकन्दराओं में धूलि-समूह के फैल जाने से वहाँ अन्धेरा हो गया। धूलिसमूह के कारण कुछ न दिखलायी पड़ने पर भी हाथी मदजल का गन्ध सूँघ कर प्रतिद्वन्द्वी हाथियों के साथ लड़ने के लिए आगे बढ़ रहे थे। गण्डस्थलों से मदक्षरण करने वाले हाथियों के ऊपर फैला हुआ धूलि-समूह चँदोवा जैसा प्रतीत हो रहा था। पर्वत के समान विशालकाय हाथी मदजल की धारा से धूलि को धो रहे थे।

युद्ध के मैदान में डटे रहने वाले वे दोनों सेना-समूह गरजते हुए परस्पर मिश्रित हो कर अस्त्र-शस्त्रों से शत्रुओं पर प्रहार करने लगे। क्रोधावेश में निकट आये हुए कोई दो वीर हाथियों को छोड़ कर परस्पर मल्लयुद्ध कर रहे थे। बन्दी लोग उत्साह वर्द्धनार्थ योद्धाओं का नाम ले-ले कर उनकी वीरगाथा गा रहे थे। शत्रुकी तीक्ष्ण तलवार से श्यामल कवच के कटजाने पर उसमें पड़ी हुई रक्त रेखा मेघ में बिजली-

जैसी चमक रही थी। नाक के रास्ते से छाती तक बाण के घुसने से घोड़े हिनहिनाते हुए परेशान हो रहे थे। कोई हाथी प्रतिद्वंद्वी हाथी के शरीर में घुसे हुए अपने दाँतों को बार-बार गर्दन हिलाकर बड़ी कठिनता से निकाल रहा था। रक्त के संसर्ग से लाल-लाल उनके दाँत समुद्र में उत्पन्न होने वाले प्रवालाङ्कुर के समान शोभित हो रहे थे। कोई हाथी किसी वीर को उठा कर जमीन पर पटक रहा था और कोई दूसरे वीर को लकड़ी के समान बीच से चीर रहा था। रक्तगन्ध के सूँघने से क्रोधोन्मत्त हाथी वीरों को कुचल कर उनकी अँतड़ियों को पैर में फँसी हुई रस्सी के समान खींच रहा था। अतिशय आहत होने से मूर्च्छित कोई वीर हाथी के सूँढ़ से निकली हुई जलबिन्दुओं से सिक्त होने से सचेत होकर पुनः युद्धकर रहा था। किसी योद्धा के कसकर बाण मारने पर परस्पर सटे हुए दो योद्धा एक ही बाण से विद्ध होकर मरने पर भी नहीं गिरते थे। डण्डे कट जाने से राजाओं के श्वेत छत्र भूमि में लुढक कर ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे मृत्यु के भोजन के लिए चाँदी के थाल रखे गये हों। गड्ढों में एकत्र हुआ रक्त यमराज की रमणियों की साड़ी रँगने के लिए घोले हुए कुङ्कुमजल जैसा प्रतीत हो रहा था। आहत एवं मृत योद्धाओं के रक्त की नदियाँ बहने लगी थीं। उन रक्तमयी नदियों में योद्धाओं के मुण्ड कमल जैसे तैर रहे थे। निरन्तर उस रणक्षेत्र में मांस को खाता और रक्त को पीता हुआ गीदड़ हर्ष से 'हुआ-हुआ' कर रहा था। कच्चे मांस खाने वाले गीध आदि चर्बी के लोभ से नगाड़े को फाड़ रहे थे। मृत वीरों के शरीरों से वह युद्धभूमि ब्रह्मा की अर्धरचित सृष्टि जैसी ज्ञात हो रही थी।

संग्राम में शिशुपाल की सेना को हारते हुए देख बाणासुर का पुत्र वेणुधारी मत्त हाथी के समान यादव सेना पर टूट पड़ा। किन्तु केसरी के सामने वह टिक न सका, बलराम जी ने सिंह के समान गरज कर

एक ही बाण में उसकी गर्दन को काट डाला। वेणुदारी के मरने से शिशुपाल की सेना अधिक क्रुद्ध होकर लड़ने लगी और अन्त में सभी योद्धा लोग एक ही साथ भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र वीर प्रद्युम्न पर चारों ओर से आक्रमण करने लगे। एक ही साथ सब ओर से आती हुई राजाओं की सेनाको उस वीर बालक ने अकेला ही इस प्रकार रोका जिस प्रकार सब ओर से आती हुई नदियों को अकेला समुद्र रोकता है। उस समय शत्रु के चमकते हुए असंख्य बाणों से बींधा हुआ बालक प्रद्युम्न का शरीर मञ्जरीयुक्त विशाल वृक्ष के समान शोभित हो रहा था। उसके बाण बिजली के समान बहुत ही तेजी से छूट रहे थे। इस वीर बालक का एक भी बाण विफल नहीं होता था। क्षणमात्र में ही शिशुपाल की सेना में भगदड़ मच गयी। त्राहि त्राहि से आकाश गूँज उठा। कितनों ने तो इस बालक की शरण में आकर आत्म समर्पण कर दिया। देवगण इस बालक की वीरता पर प्रसन्न होकर आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे थे। यह समाचार सुनकर शिशुपाल जल उठा। तुरन्त ही वह अक्षौहिणी सेना के साथ संग्राम में आ पहुँचा। शिशुपाल की वह विकट शस्त्रसज्ज सेना काव्य-रचना के समान सर्वतोभद्रबन्ध, चक्रबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, मुरजबन्ध तथा अर्धभ्रमकबन्ध आदि से युक्त दुर्जय दिखाई दे रही थी। संग्राम में आते ही उसका यादवसेना से संघर्ष हुआ। उभय दलों में विकट संग्राम होने लगा। उस घोर संग्राम को आकाश से देखकर विद्याधर लोग भी चकित हो रहे थे। सेना के असंख्य हाथियों, घोड़ों तथा वीरों का संहार करता हुआ शिशुपाल तेजी से आगे बढ़ रहा था और यादव की सेना संत्रस्त हो रही थी। इस प्रकार शिशुपाल की विजय सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण का पाञ्चजन्य (शंख) बोल उठा। अत्यन्त देदीप्यमान रथपर आरूढ़ महाधनुष लिये हुए भगवान् कृष्ण संग्राममें आ पहुँचे। उनके आते ही शंखध्वनि से गगन गुँजित हो उठा। क्षण मात्र में ही शिशुपाल का वह समस्त पङ्क्तिबद्ध सेना-व्यूह

भगवान् के एक ही बाण में ध्वस्त हो गया। पृथिवी के भारभूत शिशुपाल के जितने योद्धा लोग थे सभी की गर्दन को भगवान् ने अपने तीक्ष्ण बाणों से काट डाला। उस समय क्रोधावेश में आकर भगवान् इतने बाणों को छोड़ रहे थे कि उन बाणों से आकाश ढक गया था—सूर्य भी दिखलाई नहीं पड़ता था।

संग्राम में भगवान् श्रीकृष्ण के अतुलित पराक्रम को शिशुपाल सहन नहीं कर सका। उसकी भौंहें तन गयीं वह सिंहनाद करता हुआ प्रलय-कालीन अग्नि के समान धधकता हुआ तीक्ष्ण बाण बरसाने लगा। उसके बाणों से आकाश इस तरह ढक गया कि धरती से ऊपर का सूर्य या विद्याधर कोई नहीं दिखलाई देता था। शिशुपाल ने इतना बाण समूह एक साथ छोड़ा था कि यादवी सेना उसके बाणों के व्यूह में पड़कर टस से मस नहीं हो सकती थी। उससे निकलने और भागने का भी कोई रास्ता नहीं था। शिशुपाल के वज्र के समान धनुष्टंकार से धरती काँप रही थी। यह देख भगवान् का धनुष शिशुपाल की ओर तन गया, क्षणमात्र में ही उन्होंने शिशुपाल के सभी बाणों को काटकर पृथिवी पर गिरा दिया। यह देख यादवों की सेना जयनाद करती हुई आनन्दित हो उठी। भगवान् इस तेजी से बाणों को छोड़ रहे थे कि देखने वालों की दृष्टियाँ उन पर टिक नहीं रही थीं। भगवान् के इस चमत्कार को देखकर शिशुपाल ने स्वापन (सुला देनेवाला) अस्त्र चलाया पर भगवान् के कौस्तुभ मणि के सामने आते ही वह विलीन हो गया और उस अस्त्र से ईषत् निद्रित यादवी सेना पुनः सचेत होकर लड़ने लगी। तदुपरान्त शिशुपाल ने नागास्त्र को छोड़ा, जिससे बड़ी-बड़ी फणाओं को धारण करते एवं दाँतों से निरन्तर विष उगलते हुए असंख्य सर्प प्रकट होकर सेनापर आक्रमण करने लगे, किन्तु भगवान् के रथ की ध्वजा पर बैठे गरुड़ जी भगवान् के संकेत

पाते ही असंख्य रूप धारण कर रणस्थल में उड़ने लगे और उनके भय से सभी सर्प पाताल में छिप गये। तदुपरान्त शिशुपाल ने आग्नेयास्त्र का प्रयोग कर दिया। परन्तु भगवान् के मेघास्त्र के सामने वह भी विफल हो गया, इस प्रकार जब शिशुपाल के सभी प्रयत्न विफल हो गये तब वह मर्मस्थल को विदीर्ण करने वाले दुर्वचनों से भगवान् को उत्तेजित करने लगा। राजसूय यज्ञ में इसकी अभद्र वाणी को सुनकर भगवान् का कलुषित हृदय इस बार संग्राम में शिशुपाल की नीचता को सहन नहीं कर सका। अन्त में भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल की गर्दन को ही काट डाला और वह छिन्न मूल वृक्ष के समान धराशायी हो गया।

कविवर भट्टनारायण

संक्षिप्त परिचय

कविवर भट्टनारायण के जीवनसम्बन्धी विवरण का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। उनके समय के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित ही है कि वे काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार वामन तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन से प्राचीन हैं। वामन तथा आनन्दवर्धन दोनों ने भट्टनारायण के वेणीसंहार से पद्यों को उदाहृत किया है। इस प्रकार भट्टनारायण का समय ८०० ई० से पूर्व का होना चाहिए। किंवदंतियों के अनुसार भट्टनारायण उन ब्राह्मणों में से एक थे, जिन्हें बंगाल के राजा आदिसूर ने कान्यकुब्ज से बुलाया था। आदिसूर, उस राजवंश का प्रतिष्ठापक था, जिसने बंगाल में पालवंश के पूर्व राज्य किया था। पाल राजाओं का शासन आठवीं शताब्दी के मध्य से आरम्भ हुआ था। कोनो के मतानुसार आदिसूर अंतिम गुप्त राजा माधवगुप्त का पुत्र था, वह कान्यकुब्ज (हर्ष की अधीनता) से स्वतन्त्र होकर आदिसूर आदित्यसेन ६७१ ई० तक विद्यमान था। इसके आधार पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि भट्टनारायण का समय संभवतः सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। भट्टनारायण के वंश के विषय में या जीवनवृत्त के संबंध में उनकी कृति में कोई संकेत नहीं मिलता। इतना पता अवश्य चलता है कि वे 'मृगराजलक्ष्म' की उपाधि से विभूषित थे।

कविवर भट्टनारायण-रचित

वेणीसंहार-कथा-सार

'भगवान् कृष्णचन्द्र पाण्डवों की ओर से दूत बन कर दुर्योधन के यहाँ कौरव-पाण्डवों में सन्धि कराने के लिए गये।' जब भीम ने यह सुना तो वे आपे से बाहर हो गये और उन्होंने आवेश-पूर्ण शब्दों में कहा:—

'मैं भगवान् कृष्णचन्द्र द्वारा प्रस्तावित सन्धि को मानने की अपेक्षा मर जाना कहीं अच्छा समझता हूँ। क्या दुष्ट दुर्योधन मुझसे शक्तिशाली है? आप लोग चाहे कुछ सोचें, किन्तु मैं दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरी गदा दुर्योधनादि कौरवों को चूर्ण करके उन्हें मिट्टी में मिला देगी।'

फिर उन्होंने सहदेव की ओर संकेत करते हुए कहा—'वत्स सहदेव, सुनते हो! बड़े भाई अत्याचारी कौरवों के साथ सन्धि करके मुझे अपमानित करना चाहते हैं? अभी-अभी तुमने कहा था कि महाराज युधिष्ठिर ने केवल पाँच ग्रामों को लेने की शर्त स्वीकार कर भगवान् वासुदेव को दूत बनाकर दुष्ट दुर्योधन के यहाँ भेजा है? क्या इसमें भी कुछ रहस्य है? क्या महाराज का क्षत्रियोचित पराक्रम द्यूत-क्रीडा में ही खो गया है?'

विगत घटनाओं का स्मरण कर भीम को अत्यन्त अन्तर्वेदना हुई और वे चोट खाये हुए सिंह की भाँति दहाड़ते हुए बोल उठे—

'क्या मैं संग्राम में कौरवों का मर्दन न कर सकूँगा? क्या मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुःशासन का रक्तपान न कर सकूँगा? और क्या मैं

अपनी प्रचण्ड गदा से दुर्योधन की जांघों को चूर-चूर न कर डालूँगा ? जाओ सहदेव ! महाराज से कह दो कि मैं इस सन्धि को न मानूँगा और कदापि न मानूँगा । अगर महाराज को अपने गोत्रवध (दुर्योधनादिवध) से लोक में निन्दित और लज्जित होने का भय है तो हो, पर मेरी लज्जा और सम्मान तो भरी सभा में द्रौपदी के वस्त्र और केशापकर्षण के समय ही भस्मसात् हो चुके हैं ।

इसी बीच भानुमती (दुर्योधन की पत्नी) की तीखी बातों से बींधी हुई उद्विग्न द्रौपदी भीम के समक्ष उपस्थित हो गयी ।

द्रौपदी के म्लान चेहरे का कारण पूछने पर भीम को मालूम हो गया कि अभी-अभी भानुमती ने कहा था कि 'अयि द्रौपदी ! सन्धि-प्रस्ताव तो आरम्भ हो गया है अब अपने बिखरे हुए केशों को क्यों नहीं सम्हाल लेती ?'

इस समाचार से भीम का क्रोध इस लिए भड़क नहीं उठा कि उन्हें यह भी उसी समय ज्ञात हो गया कि चेटी ने भानुमती को इसका सटीक उत्तर दे दिया था कि 'अयि भानुमती आपके केश जब तक विमुक्त नहीं होंगे (आप विधवा नहीं होंगी) तब तक मेरी महारानी के केश कैसे बँधेंगे ?'

इतने में युद्धस्थल से नगाड़े की आवाज आने लगी और कंचुकी द्वारा विदित हुआ कि 'संधि-प्रस्ताव भग्न हो गया है और दुर्योधन ने भगवान् कृष्ण को बन्दी बनाने का आदेश दे दिया है । इसी से हमारे (पाण्डवों के) शिविर में खलबली मच गयी है ।'

यह सुन भीम तत्क्षण ही द्रौपदी को सान्त्वना देकर शीघ्रता से समर की ओर चल पड़े ।

अभिमन्यु वध के पश्चात् राजा दुर्योधन प्रसन्न होकर अपनी रानी भानुमती को यह समाचार सुनाने के लिए स्वयं प्रस्तुत हुए, पर उस

समय महारानी भानुमती अन्तःपुर में नहीं थीं अतएव बड़ी उत्सुकता से राजा ने कंचुकी से पूछा—'इस समय मेरी प्राणेश्वरी कहाँ हैं, शीघ्र बताइये ? मैं अपनी इस प्रथम विजय का सुखद् वृत्तान्त महारानी को स्वयं सुनाना चाहता हूँ। राजा दुर्योधन की इस मूर्खता पर कंचुकी मन ही मन राजा को धिक्कार देने लगा-'धिक् मूर्ख ! दिगन्त विश्रुत महापराक्रमी अजेय भीष्म पितामह के वध का बदला अल्पवयस्क असहाय बालक अभिमन्यु को छल-छद्म से मार कर लिया है और उसपर भी इतना हर्षोद्रेक ? तुझे धिक्कार है !'

तत्पश्चात् अश्रद्धापूर्वक कंचुकी ने राजा को उस वाटिका में पहुँचा दिया जहाँ महारानी अपने अनिष्ट स्वप्न का समाचार सखियों से कह रही थी। एकान्त में अपनी सखियों के साथ धीरे-धीरे बात करती हुई महारानी को देख, राजा दुर्योधन सशङ्कित होकर परदे की आड़ से महारानी की बातें सुनने लगे। महारानी भानुमती ने कहा—'हे सखि ! तदनन्तर देवताओं से भी अधिक सुन्दर उस 'नकुल' के दर्शन से मैं उत्कण्ठित हो उठी ······।

इतनी अधूरी बातें सुनते ही राजा दुर्योधन मारे क्रोध से लाल पीले हो उठे और मन ही मन कहने लगे—'अरी ! ठीक है, तेरी सारी दूषित मनोवृत्ति मुझे मालूम हो गयी। अरी दुष्टे ! इसीलिए आज प्रभात में ही तू एकान्त स्थान में चली आयी थी ? बस ! अब अधिक सोचने और सुनने की आवश्यकता नहीं ? तलवार खींच कर ज्यों ही आगे बढ़े कि महारानी का स्वर फिर सुनाई पड़ा।

महारानी ने कहा—'सखि ! इसके अनन्तर सबेरा हो गया और आर्यपुत्र के उद्बोधन निमित्त प्रभातकालीन मङ्गलध्वनि पूर्ण सङ्गीत के साथ मैं जाग पड़ी।'

इतना सुनते ही राजा दुर्योधन सचेत हो गये। उन्हें मालूम हो गया कि महारानी यह सारा वृत्तान्त अपने स्वप्न का कह रही हैं। अच्छा हुआ कि मैंने आवेश में आकर महारानी को कोई कटु वचन नहीं कहा। सचमुच आज कल मेरी बुद्धि स्थिर नहीं है। कथाप्रसङ्ग पूर्ण होने के पहले ही मैं नकुल (नेवला) को भीम का भाई माद्रीसुत समझ कर व्यर्थ ही महारानी की गर्दन काटने के लिए उद्यत हो गया था। अच्छा ? महारानी अब अनिष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए भगवान् भास्कर को अर्घ्यप्रदान करने के लिए ध्यानस्थ हो रही हैं। यही अवसर महारानी के निकट जाने का है।

यह सोच कर सङ्केत से सखियों को दूर हटा कर राजा पीछे से महारानी की अञ्जलि में स्वयं पुष्प प्रदान करने लगे।

इतने में महाझंझावात (प्रचण्ड आँधी) से हस्तिनापुर हिल उठा, त्राहि-त्राहि से आकाश गूँजने लगा, राजा दुर्योधन के विजय-रथ की पाताका टूट कर धाराशायी हो गयी, कौरवों के शिविर में आतङ्क-सा छा गया, महारानी भानुमती भी त्रस्त होकर राजा दुर्योधन के समीप चली गयी।

इसी समय आर्तनाद करती हुई जयद्रथ की माता और उसकी पत्नी दुःशला (दुर्योधन की बहिन) राजा के सामने आकर कहने लगी 'महाराज! गाण्डीवधारी अर्जुन ने पुत्रवियोग से उद्विग्न होकर आज सुर्यास्त से पहले महारथी जयद्रथ को मारने की अटल प्रतिज्ञा साध ली है। उसके प्रकोप से पृथ्वी काँप रही है। झंझावात से वायु-मण्डल दूषित हो गया है। रक्षा कीजिए महाराज, रक्षा कीजिए !! यह समाचार सुन राजा दुर्योधन तमक उठे और उन दोनों को सान्त्वना देकर रणस्थल की ओर चल पड़े।

महारथी जयद्रथवध के दिन संग्राम में द्रुपद, मत्स्यसेन, भूरिश्रवा,

भगदत्त, वाह्लीक प्रभृति प्रधान-प्रधान राजाओं तथा जयद्रथ और असंख्य घोड़े-हाथियों के वध से रणस्थल इतना रक्तरंजित हो चुका था कि रुधिरप्रिय नामक राक्षस और उसकी वसागन्धा पत्नी यथेच्छ रुधिर, मांस, वसा और मज्जाओं से तृप्त होकर उस विकट संग्राम को सौ बरस तक अनवरत चलने की कामना कर रही थी और उधर द्रौपदी की वेणी को पकड़कर घसीटने वाला दुष्ट दुःशासन को वध करने का दृढ़प्रतिज्ञ प्रचण्ड गदाधारी भीम दुःशासन के रुधिरपान करने के लिए रणस्थली में इतस्ततः गरज रहे थे। पर उस दिन उनकी गदाशक्ति क्षीण हो रही थी, क्योंकि परशुराम का प्रधान शिष्य, समस्त लोक का आचार्य, धनुर्धारियों में श्रेष्ठ, कौरव-पाण्डव दोनों पक्षों के गुरु, ब्राह्मणश्रेष्ठ महा पराक्रमी द्रोणाचार्य दुःशासन की रक्षा में तत्पर होकर कौरवों के सेनानायक सृष्टिसंहार-कालीन झंझावात से क्षुब्ध पुष्करावर्तक मेघों के भीषण गड़-गड़ाहट की प्रतिध्वनि का अनुसरण करने वाले अपने तीक्ष्ण बाणों से पाण्डवों की सेना को तितर-वितर कर रहे थे। उनके दिव्य शस्त्रों की ज्वाला से गाण्डीवधारी अर्जुन, सात्यकी और भीम भी तिल-मिलाकर रणस्थल से भाग जाना चाहते थे। समस्त पाण्डव सेनाओं में त्राहि-त्राहि की प्रतिध्वनि गूँज रही थी। अन्त में श्रीकृष्ण की मन्त्रणा से द्रोणाचार्यपुत्र महारथी वीर अश्वत्थामा के संग्राम में मर जाने की झूठी अफवाह उड़ा दी गयी, जिसे सुनकर द्रोणाचार्य स्तब्ध रह गये और धर्मराज युधिष्ठिर के मुख से भी इतना अर्धोक्त पद सुनते ही विश्वस्त होकर उन्होंने शस्त्रत्याग कर दिया। फिर क्या था, तत्क्षण ही धृष्टद्युम्न ने लपक कर आचार्य की शिखा को पकड़ कर उनकी गर्दन काट डाली और भीम की गदा दुःशासन की ओर टूट पड़ी। समस्त कौरव सेना त्रस्त होकर रणस्थली से भाग गयी। आचार्य का सारथी भी शस्त्राघात से छिन्न-भिन्न होने से व्याकुल होकर रणस्थल के लिए प्रस्तुत शस्त्रसज्ज अश्वत्थामा के चरणों पर जाकर गिर पड़ा और उसने आचार्य



धृष्टद्युम्न ने लपक कर द्रोणाचार्य की शिखा को पकड़ लिया (पृ० १५८)

की दुःखद मृत्यु का समाचार उन्हें सुना दिया। विश्वविश्रुत पराक्रमी पूज्य पिता की अतर्कित मृत्यु के समाचार से अश्वत्थामा व्याकुल हो उठे। मृत्यु का कारण मिथ्या प्रसारित "पुत्रवियोग" अश्वत्थामा को अधिक सता रहा था। रह-रहकर वे अजात शत्रु धर्मराज को कोस रहे थे। उनको विश्वास था कि मेरे पिता अजेय हैं, रण में उनके दिव्य शस्त्रों के सामने देवता भी टिक नहीं सकते।

इसी बीच अश्वत्थामा के मामा कृपाचार्य भी रण से पराङ्मुख होकर वहाँ उपस्थित हो गये और दीर्घ श्वास लेते हुए कहने लगे—'सभी भाइयों के साथ कौरव नरेश दुर्योधन को धिक्कार है, जिसका आजतक कोई शत्रु नहीं उस अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर को धिक्कार है और जिन्होंने चित्र-सा बनकर उस समय द्रौपदी के केशापकर्षण को देखा तथा आज विश्वबन्द्य गुरु द्रोणाचार्य के केशापकर्षण को देखा उन्हें भी धिक्कार है! और मुझे भी धिक्कार है!!

ऐसा कहकर अश्वत्थामा को सेनापति बनकर पाण्डवों से बदला लेने के लिए उत्साहित करके दुर्योधन के पास ले गये। परन्तु इनके जाने के पहिले ही महारथी कर्ण अपना रंग जमाकर सेनापति के पदपर आरूढ़ हो चुके थे।

अश्वत्थामाके सेनापति बननेकी पदलोलुपता को देखकर व्यंग्यभरे शब्दों में कर्ण ने कहा—द्रोणायने! सेनापति बनना सरल नहीं? अभी अभी आपके भुजपराक्रमशाली पूज्य पिताने सेनापति बनकर ही तो धृष्टद्युम्न से त्रस्त होकर रण में शस्त्रत्यागकर अपने साथ महारथियों को भी मौत के घाट उतरवाया है। आखीर आप भी तो उन्हीं के पुत्र हैं न?

इस प्रकार कर्ण की विविध प्रकार से व्यंग्यभरी बातों को सुनकर अश्वत्थामा तिलमिला उठे और धैर्यच्युत होकर कहने लगे—रे, रे, राधागर्भभारभूत! शस्त्रानभिज्ञ!! मेरे समक्ष ही मेरे पिता की निन्दा कर रहा

है ? अरे, सूताधम ! मेरे पिता के भुजबल को समस्त संसार जानता है । जब तक वे जीते रहे समरभूमि में पाण्डवों के ऊपर उन्होंने क्या क्या उत्पात मचाया, उसे क्या तूने नहीं देखा था ? अरे पिशुन ! उन्होंने रण में शस्त्र का त्याग क्यों किया ? इसका उत्तर सत्यपरायण धर्मराज युधिष्ठिर से पूछ । अरे, समरभूमि से भाग कर आने वाले कायर ! भीरु !! समर में उस समय तू कहाँ था ? कहाँ चली गयी थी तेरी यह वीरता ? अरे, व्यर्थाभिमानी ! मेरे पिता ने तो पुत्रशोक या धृष्टद्युम्न से त्रस्त होकर रण में शस्त्र त्याग कर दिया, किन्तु व्यर्थ भुजाओं के अभिमान से फूले न समाये तेरे मस्तक को अभी मैं केवल वाम (लघु) पाद प्रहार से चूर्ण कर देता हूँ, रे सम्हल जा, मूर्ख !

बस, क्या था ? अश्वत्थामा के पाद-प्रहार से बचकर महारथी कर्ण भी तलवार खींच कर खड़े हो गये और कहने लगे—'अरे वाचाल ! ब्राह्मणाधम !! ब्राह्मण होने के कारण तू अवध्य है, नहीं तो अभी तेरी गर्दन को धड़ से अलग कर देता ?

इतना सुनते ही ओजस्वी अश्वत्थामा ने आवेश में आकर अपने यज्ञोपवीत को तोड़ डाला और कहा—'ले, यदि मैं ब्राह्मण होने के कारण ही तेरा अवध्य हूँ तो इस जाति को आज मैं छोड़ रहा हूँ ? अब आगे बढ़ ? अभी तुझे मारकर मैं अर्जुन की प्रतिज्ञा को भग्न करता हूँ—तू मेरे हाथ से ही मर ?

इतने में दुर्योधन दोनों के बीच खड़े हो कर दानों को शान्त कर ही रहे थे कि रण-स्थली से भीम की गदा से व्यथित दुःशासन का आर्तनाद सुनाई पड़ा । उसे बचाने के लिए अश्वत्थामा को छोड़ कर अन्य सभी महारथी दौड़ पड़े ।

दुःशासन को बचाने के लिए दुर्योधन अपनी पूरी शक्ति से विकट संभ्रम का सामना कर रहे थे पर अधिक देर तक टिक न सके । अन्त में



दुर्योधन-वध (पृ० १६१)

भीम की प्रचण्ड गदा से मूर्च्छित होकर वे भी धराशायी हो गये। चतुर सारथी शीघ्रता से उन्हें रथपर लादकर भाग गया और रणस्थली से दूर ले जाकर एक बट-वृक्ष के नीचे ठण्ढी हवा में भूमिशय्या पर ही लिटा दिया।

उधर भीम ने महारथी कर्ण और शल्य आदि योद्धाओं के समक्षही दुःशासन को पछाड़ कर जीवितावस्था में ही, उसके विशाल वक्षःस्थल को अपने हाथों से चीरकर पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार यथेच्छ रक्तपान कर अवशिष्ट रक्त से समस्त शरीर को रञ्जित कर डाला तथा महाभयानक घोराकृति से प्रलयकालीन मेघ के समान गरजकर कर्ण के ऊपर भी टूट पड़ा।

उस समय भीमकी विकट आकृति को देखकर दोनों पक्षों की सेनाएँ उन्हें अजीब दानव समझ कर चीत्कार करती हुईं रणस्थली छोड़कर भाग गयीं।

इतने में भीम का मेघनाद सुनकर कर्ण को बचाने के लिए कृपाचार्य भी सुसज्ज होकर भागती हुई सेनाओं को ललकारते हुए रणस्थली में आ पहुँचे।

उधर अर्जुन भी भीम की पराजय की शङ्का से अपने रथ को तेजी से बढ़ाकर महारथी कर्ण के ऊपर बाण बरसाने लगे।

दोनों महारथियों के विकट युद्ध में असंख्य योद्धाओं के सिर कट-कटकर पृथ्वी पर गिरने लगे। हाथी, घोड़े और रथचक्र की धूल से समस्त रणस्थल इतना आच्छादित हो गया कि योद्धा लोग बिना निशाना साधे ही एक दूसरे पर बाण बरसा रहे थे। बीच-बीच में अर्जुन के रथ की पताका पर बैठे महावीर की वज्रपात की भाँति किलकिलाहट से तथा अर्जुन के देवदत्त तथा भगवान् वासुदेव के पांचजन्य नामक

शङ्ख के तुमुल निनाद से दसों दिशाएँ गूँज उठती थीं। कर्ण की रक्षा करने में कृपाचार्य भी अस्त-व्यस्त हो रहे थे।

इतने में पिता की पराजय सुनकर कर्ण का पुत्र कुमार वीर वृषसेन भी शस्त्रसज्ज होकर रणस्थल में उतर आया और उसने अपने चम-चमाते हुए बाणों से अर्जुन के भगवान् वासुदेव संचालित भव्य रथ को क्षणमात्र में आच्छादित कर दिया। बालक के इस अतुलित पराक्रम को देखकर मुस्कराते हुए अर्जुन ने कहा—'अरे, रे, कुमार वृषसेन! मेरे क्रुद्ध हो जानेपर तेरे पिता भी पल भर मेरे समक्ष नहीं टिक सकते, फिर तेरा कहना ही क्या? दूर हो जा बालक! अपने समवयस्क से जाकर लड़?'

इस प्रकार अर्जुन के व्यङ्ग्य भरे कटु वचनों को सुनकर क्रोध में तमतमाते हुए बालक ने मर्मच्छेदी विकराल बाणों से अर्जुन के वक्षःस्थल को बींध डाला।

महारथी अर्जुन उस व्यथा को सह न सके। झट क्रोधावेश में कर्कश गांडीव की प्रत्यञ्चा (डोरी) को तानकर बालक के ऊपर असंख्य बाणों की वर्षा करने लगे। पर अर्जुन का एक भी बाण सफल नहीं हुआ। उस वीर बालक ने शीघ्र ही अपने भुजबल से अर्जुन के समस्त बाणों को काटते हुए विद्युत् गति से वासुदेव संचालित अर्जुन के प्रशस्त रथ को क्षणभर में ही बाणों से ढक दिया।

वीर बालक के इस अपौरुषेय पराक्रम को देखकर दोनों पक्षों के सैनिक तथा भगवान् वासुदेव भी कहने लगे—धन्य बालक! धन्य!!

यह सुनकर गाण्डीवधारी अर्जुन तिलमिला उठे और इस बार उन्होंने अति तीक्ष्ण बाणों से बालक के रथ तथा धनुष की प्रत्यञ्चा को ही काट डाला।

धनुर्भंग होने पर भी वह वीर बालक विचलित नहीं हुआ। झट, तलवार खींचकर पैदल ही अर्जुन पर टूट पड़ा।

उधर कर्ण भी शरवर्षण से अपने पुत्र की सहायता करने लगे।

इतने में वह बालक एक दूसरे रथ पर उछलकर चढ़ गया और कहने लगा—'अरे, मेरे पिता की निन्दा में रत पाण्डुकुमार अर्जुन! देख, अब मेरे बाण तेरे अङ्गों के अतिरिक्त कहीं नहीं गिरेंगे।' ऐसा कहकर बालक ने गाण्डीवधारी अर्जुन के समस्त शरीर को बाणों से बींध डाला।

अर्जुन बालक के तीक्ष्ण बाणों की व्यथा से पीड़ित हो उठे और इस बार क्रुद्ध होकर उन्होंने सहस्र सूर्य किरणों से भी अधिक प्रकाशमान अपने शक्ति-बाण को बालक के ऊपर छोड़ दिया। पर उससे भी वह बालक विचलित न हुआ। शीघ्रता से उसने भी परशुराम के कुठार के समान तीक्ष्ण धारवाला बाण प्रत्यञ्चा पर चढ़ा, कर्णपर्यन्त खींच कर एक ही निशान में अर्जुन के उस शक्ति-बाण को आधे मार्ग में ही काट डाला।

तत्पश्चात् भगवान् वासुदेव कहने लगे—धन्य बालक! धन्य !! यह सुन अर्जुन का शिर लज्जा से झुक गया और कर्ण के अट्टहास से समर गूँज उठा।

यह देख अर्जुन ने तिल-मिलाकर कहा—अरे, रे कर्ण! तूने तो मेरे परोक्ष में बालक अभिमन्यु का निर्मम वध किया था पर आज मैं तेरे सामने ही उसका बदला लेता हूँ। देख? यह कहकर इस बार उस महागाण्डीव को सम्भाला जिसका शब्द वज्रपात के समान था।

उस समय महारथी कर्ण ने भी अपने 'कालपृष्ठ' नामक धनुष को तान दिया। दोनों महारथियों के धनुष की प्रत्यञ्चा के गगनभेदी टङ्कारों से कर्ण-विवर फटने लगे। पर अन्त में कर्ण के हाथों से धनुष गिर पड़ा, कौरवसेना चिल्ला उठी—हाय, कुमार वृषसेन मारे गये?

तदनन्तर कर्ण का सहचर सुन्दरक यह सब समाचार लेकर इधर उधर भटकता हुआ उस वटवृक्ष के नीचे पहुँचा जहाँ दुर्योधन संज्ञाशून्य पड़ा हुआ था।

उस समय कुछ सचेत होकर राजा दुर्योधन अपने सबसे प्रिय छोटे भाई वीर दुःशासन के वध का ताजा समाचार सुनकर बिलख-बिलख कर रो रहे थे। सुन्दरक को सामने देख बड़ी उत्सुकता से युद्ध का समाचार पूछने लगे। सुन्दरक ने कुमार वृषसेन और गाण्डीवधारी अर्जुन के विकट संग्राम का सविस्तर वर्णन करते हुए अन्त में कुमार की दुःखद मृत्यु का समाचार भी कह सुनाया।

राजा दुर्योधन हाय वत्स वृषसेन ! करके रोने लगे। इसी समय वहाँ गान्धारी के साथ महाराज धृतराष्ट्र के आने का समाचार पहुँच गया। राजा दुर्योधन लज्जित होकर अपना काला मुँह छिपाने का प्रयत्न करने लगे।

सञ्जय के साथ महाराज धृतराष्ट्र और माता गांधारी अचानक उस वटवृक्ष के नीचे उपस्थित होकर दुःशासन वध से सन्तप्त तथा लज्जा और ग्लानि से नतमस्तक दुर्योधन को टटोलते हुए कहने लगे—बेटा अब अधिक दुःख से क्या लाभ ? धैर्य धारण करो। अब सौ पुत्रों में से एकमात्र जीवित तुम भी यदि हम लोगों से भाषण नहीं करोगे तो कौन करेगा ?

इस प्रकार पिता का करुण वचन सुनकर दुर्योधन कहने लगे— पिताजी ! माताजी !! आप लोग धन्य हैं, आपके ६६ पुत्रों के वध का कारण मैं ही हूँ और मुझे अब भी आपलोग पुत्र कहकर पुकारते हैं ? ६६ पुत्रों के वध से उत्पन्न होने वाले संताप से जिस प्रकार आप लोग संतप्त हैं, दुःशासनवध से आज मैं भी उसी प्रकार व्यथित हूँ। आप लोग धैर्यधारण कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि मैं अभी कुन्तीपुत्रों को मारकर आपलोगों का हृदय ठंडा करूँ।

दुर्योधन का वचन सुन माता गांधारी कम्पित हृदय से बोल उठी— 'पुत्र ! सर्वनाश हो चुका, तुझे मेरी शपथ है, अब भी युद्धविमुख

होकर मुझे अपुत्री होने से बचा, अब तू एक ही हम दोनों का पथ-प्रदर्शक बचा हुआ है।'

तदुपरान्त धृतराष्ट्र भी कहने लगे—देखो बेटा! जिस भीष्म-पितामह और द्रोणाचार्य के बल पर हम ही नहीं प्रत्युत संसार तेरी विजय पर गर्व करता था, वे दोनों तो प्रथम ही मार डाले गये। आज महाप्रतापी कर्ण के सामने ही अर्जुन ने कर्ण के पुत्रवीर वृषसेन की हत्या कर दी है। पुत्र! पांडवों की सभी प्रतिज्ञाएँ पूरी होती जा रही हैं। अतः शत्रुविषयक अभिमान का परित्यागकर समय रहते अब भी तुम युधिष्ठिर की इच्छानुसार संधिनियम से (केवल पांच गांव देकर) सन्धि कर लो। युधिष्ठिर अभी भी सन्धि करने का इच्छुक है, क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा है कि—'मेरे भाइयों में एक का भी वध होगा तो मैं जीवित नहीं रहूँगा। अतः उसकी इच्छा अनिष्ट निवारण के लिए युद्ध समाप्त करने की है।

यह सुनकर दीर्घ निःश्वास लेते हुए दुर्योधन ने कहा—'पिताजी, पिताजी!! यह आप क्या कह रहे हैं? एक भी कनिष्ठ भ्राता की मृत्यु हुए विना ही युधिष्ठिर ने ऐसी प्रतिज्ञा कर ली है तो क्या मैं ९९ भ्राताओं के मरने पर भी अपने प्राणों की ममता कर के सन्धि कर लूँ—ऐसा कदापि नहीं हो सकता? अगर इस समय पराजय की आशङ्का से मेरी ममता पर यह सन्धि प्रस्ताव आप रखेंगे तो राजा के क्षत्रियोचित धर्म की मर्यादा का उल्लंघन हो जायगा। पिताजी! आप आशीर्वाद दीजिए कि वीर दुःशासन के रक्त को पीने वाले शत्रु भीम को मारकर ही मैं युधिष्ठिर का मनोरथ भग्न करूँगा।'

इतने में पुनः कौरव सेनाओं की चीत्कारों से दिशाएँ गूँज उठीं। महासमर से रोते हुए शल्य के पलायन से विदित हो गया कि अर्जुन के वज्रसम गाण्डीव के वज्रप्रहार से महारथी कर्ण धराशायी हो गये।

यह सुन हाय प्रिय मित्र कर्ण ! कहते हुए राजा दुर्योधन पृथ्वी पर गिर पड़े।

इसी अवसर पर दुर्योधन को ढूँढते हुए अर्जुन के साथ भीम भी वहाँ पहुँच गये। दोनों भाई माता गांधारी के साथ चाचा धृतराष्ट्र को उपस्थित देख चकित होकर सदाचार के अनुकूल उन्हें प्रणाम कर दुर्योधन को धिक्कारने लगे।

भीम के कटुवचन को सुनकर दुर्योधन भी तमक उठे। दोनों में बढ़-बढ़कर बातें होने लगीं। अन्त में क्रोधावेश में आकर भीम ने कहा—'अरे, रे भरतवंश के कलङ्क ! अभी अभी दुःशासन वध के समय तुझे पूर्ण दण्ड मिल चुका है। उस समय तुझको मैंने इसीलिए नहीं मार डाला कि तू ने अपने दुष्कर्मों का फल अपनी आँखों से नहीं देखा था। अब मेरी सभी प्रतिज्ञाएँ पूरी हो चुकी हैं केवल तेरी जांघों को इस गदा से विदीर्ण कर तेरे रक्त से अपने शरीर को रञ्जित करना ही शेष है, उसे भी आर्य धृतराष्ट्र के समक्ष होने से अभी नहीं तो कल सबेरे अवश्य पूरा करूँगा।'

इसी समय बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर का आह्वान सुन दोनों भाइयों ने शिविर की ओर प्रस्थान किया।

तदुपरान्त कर्ण का वध सुनकर अर्जुन को ललकारते हुए अश्वत्थामा ने उपस्थित होकर कहा—'कौरवनरेश ! आपने अपने प्रिय मित्र कर्ण का पराक्रम तो देख ही लिया, अब आप उसके प्रतिशोध लेने के लिए मुझे आज्ञा दीजिए। मैं तिनके के समान अर्जुन के गाण्डीव को ध्वस्तकर क्षणमात्र में पाण्डवों के सिर काट डालता हूँ।

यह सुन दुर्योधन व्यथित हो कर कहने लगे—आचार्यपुत्र ! प्रिय मित्र ! कर्ण के विनाश से जितना आप सुखी हैं, उतना ही मैं दुःखी हूँ। अतः आपका यह मनोरथ मेरे विनाश के बाद पूर्ण हो तो अच्छा है।

महाभारत संग्राम के अन्तिम दिन सबेरे दीर्घश्वास लेते हुए युधिष्ठिर ने कहा—'ओह ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य प्रभृति भयोत्पादक योद्धाओं के विनाश से अवश्यम्भावी विजय पर जितनी प्रसन्नता जाग उठी थी आज उससे भी बढ़कर भयङ्कर वज्रपात देखने में आ रहा है ! भीम ने प्रतिज्ञा कर ली है कि 'यदि आज सबेरे दुर्योधन नहीं मारा गया तो अपना ही प्राण परित्याग कर दूँगा'। इस समाचार से न जाने दुर्योधन कहाँ छिप गया है। इस विषय में भगवान् वासुदेव की व्यग्रता मुझे अधिक सता रही है।'

धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि सन्देशवाहक (पाञ्चालक) उपस्थित होकर कहने लगा—'महाराज की जय हो ? महाराज ! भगवान् वासुदेव के साथ कुमार भीम और अर्जुन दोनों भाई जब समन्तपञ्चक के चारों ओर दुर्योधन को खोजते-खोजते अस्तव्यस्त हो रहे थे तब कुमार भीम क्रोधाग्नि उगल रहे थे।

इसी बीच कुमार भीमसेन का परिचित किसी व्याध ने धीरे से आकर कुमार के कानों में कुछ अस्पष्ट शब्द कहे और उसने उन लोगों को एक सरोवर के निकट ले जाकर जल में प्रवेश करते हुए दुर्योधन के पदचिह्न दिखा दिये। यह देख कुमार भीम की गदा फड़क उठी, क्षण मात्र में ही उन्होंने दुर्योधन को विविध प्रकार से धिक्कारते हुए अपनी गदा से उस सरोवर को आलोड़ित करके उसके समस्त जल को उछाल कर बाहर फेंक दिया। तदुपरान्त दुर्योधन ने विक्षुब्ध होकर दोनों हाथों से भीषण गदा उठाकर घुमायी और भीम पर टूट पड़ा। किन्तु क्षणमात्र में ही उसने भयानक समर-भूमि की ओर देखा, जहाँ भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुःशासन, शल्य प्रभृति महारथियों के तथा समस्त कौरवों के शवों के ढेरों को शृगाल और कुत्ते खा रहे थे। यह देख दुर्योधन को अपना दुष्कर्म

याद आगया और उसने सहम कर अपनी गदाओं को जमीन पर फेंक दिया। यह देख कुमार भीम ने कहा—'अरे, रे, कौरव कुलकलङ्क ! क्यों डरता है ? (मैं तुझे कुमार अभिमन्यु की तरह निःशस्त्र करके तेरा वध नहीं करना चाहता, उसकी गदा को ठोकर मार कर) ले दुष्ट सम्भाल अपनी गदा को और हमारे पाँचों भाइयों में जिस एक से तुझे लड़कर मरना अभीष्ट सिद्ध करना हो लड़ ले, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यह सुन दुर्योधन पुनः तमक उठा और दुःशासन-वध के प्रतिशोध की भावना से उसने भीम के साथ ही गदायुद्ध प्रारम्भ कर दिया।

तदुपरान्त भगवान् वासुदेव ने अपनी विजय निश्चित समझ कर मुझे महाराज के राज्याभिषेक की विधिवत् सम्पूर्ण सामग्री तैयार की जाय ऐसी सूचना देने के लिए भेजा है।'

यह सुन धर्मराज गद्-गद् हो उठे, द्रौपदी का हर्षोद्रेक वर्णनातीत हो गया, विजय ! विजय !! की ध्वनि से समस्त राजभवन गूँजने लगा।

इसी बीच दुर्योधन के मित्र चार्वाक नामक राक्षस ने तपस्वी के वेश में अस्त-व्यस्त होता हुआ युधिष्ठिर के पास आकर दुर्योधन की गदा से भीम के धराशायी होने का मिथ्या समाचार शोक प्रकट करते हुए सुना दिया।

सत्यवादी धर्मराज उस छद्मवेषी तपस्वी के वचन पर विश्वास कर हाय, वत्स भीम ! कहते हुए मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

कंचुकी ने धर्मराज को चेतनावस्था में लाने का प्रयत्न किया परन्तु महाराज शान्त नहीं हुए। उनकी शोकाग्नि भभक उठी, वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चिता लगा कर भस्म होने के लिए उद्यत हो गये। उनके साथ महारानी द्रौपदी भी भीम के वियोग में बिलखती हुई महाराज से पहले ही चिता में प्रवेश करने के लिए तैयार हो गयी।

इसी समय ताजे रक्त से लथपथ महाभयङ्कर आकृति वाले द्रौपदी का नाम ले लेकर गरजते हुए राजभवन की ओर आते हुए एक विकटाकृति को दुर्योधन समझ कर लोग इतस्ततः भागने लगे। महाराज युधिष्ठिर को शस्त्र-प्रदान करने का साहस भी किसी में न रहा। अतः धर्मराज ने द्रौपदी की ओर बढ़ते हुए उस भयानक आकृति को लपक कर अपने भुजपाश में कस कर आबद्ध कर लिया और कहने लगे—अरे, रे मेरे प्रिय अनुज भीम का हत्यारा पापी दुर्योधन! आज तू मेरे भुजारूपी पिंजड़े के भीतर पहुँच कर बच नहीं सकता? यह सुन महाराज के भुजपाश में आबद्ध घोराकृति भीम बोल उठे—ओह, क्या महाराज मुझे दुर्योधन समझ कर मसल देना चाहते हैं? (सम्हल कर) महाराज की जय हो! महाराज! भ्रम न करें, मैं दुर्योधन के रक्त से लिप्त आपका प्रिय अनुज भीम हूँ। अब वह पापी दुर्योधन कहाँ? भगवान् वासुदेव का तिरस्कार करने वाले उस महापापी को आपके आशीर्वाद से अभी-अभी मैंने संचूर्ण कर डाला है। आर्य! मुझे एक क्षण के लिए अवकाश दीजिए। मैं दुर्योधन के तप्त रक्त से सने हुए इन हाथों से द्रौपदी की वेणी, जिसे दुर्योधन के आदेश से दुष्ट दुःशासन ने खींच कर खोल दिया था—बाँधने के लिए व्यग्र हो रहा हूँ।

यह सुनते ही महाराज ने भीम के मस्तक को सूँघकर बड़े ही हर्षोच्छ्वास लेकर भीम का आलिङ्गन किया और भीम लपककर द्रौपदी के गले से चिपक कर अपने हाथों से द्रौपदी की वेणी को गूथने लगे। इतने में अर्जुन के साथ भगवान् वासुदेव वहाँ पहुँच गये और हँसते हुए कहने लगे—भ्राताओं के सहित युधिष्ठिर की जय हो! महाराज युधिष्ठिर! मैं यह देखकर कि आप चार्वाक के कपटों से व्याकुल हो रहे हैं; अर्जुन को लेकर शीघ्र आया हूँ। पर रास्ते ही में

पता लगा कि नकुल ने उसे पकड़ लिया है। अतः कहिए महाराज इसके आगे अब आपकी क्या इच्छा है जो हम लोग करें ?

भगवान् वासुदेव का यह वचन सुन धर्मराज ने कहा—भगवन् ! अब आप यही आशीर्वाद दें कि विना किसी सन्देह के लोगों के हृदय में आप के प्रति सुदृढ़ भक्ति हो। भगवान् ने कहा—एवमस्तु।

